

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186764

UNIVERSAL
LIBRARY

धर्मविज्ञान

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—पण्डित सुन्दरलाल त्रिपाठी



श्रीरामकृष्ण आश्रमः

नागपुर, सी. पी.

जनवरी १९४८]

[मूल्य १॥=)

प्रकाशक—

स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, सी. पी.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प सत्ताइसवाँ
(सर्वाधिकार स्वरक्षित)

मुद्रक—

रतिलाल वाङ्गीलाल शाह,
सर्वोदय प्रिंटिंग प्रेस,
सुभाषचन्द्र रोड, गणेशपेठ, नागपुर.

वक्तव्य

सन् १८९६ के आरम्भ में श्री स्वामी विवेकानन्दजी ने न्यूयार्क में अपनी एक धर्मकक्षा में धर्म के 'शास्त्रीय एवं तात्विक' अंगों पर विवेचनापूर्ण जो भाषण दिये थे, उन्हीं का यह हिन्दी अनुवाद है।

इस ग्रंथ में सांख्य तथा वेदान्त मत विशेष रूप से आलोचित किए हैं; साथ ही बड़े सुन्दर एवं सुचारु रूप से यह दर्शाते हुए कि इन दोनों में किन किन स्थानों पर ऐक्य है तथा कहाँ कहाँ विभिन्नता, यह भी दिखाया गया है कि वेदान्त सांख्य मत की ही चरम परिणति है।

प्रस्तुत पुस्तक में धर्म के मूल तत्वों का—जिन्हें ठीक ठीक समझे बिना धर्म नामक वस्तु पूर्ण रूप से हृदयंगम नहीं की जा सकती—आधुनिक विज्ञान के साथ मेल करते हुए आलोचना की गई है। इसीलिए इसका नाम 'धर्म-विज्ञान' रखा गया है।

हमें यह कहते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि श्री पं. सुन्दरलालजी त्रिपाठी का यह हिन्दी अनुवाद पूर्णतः विश्वस्त है तथा भाव एवं ओज की दृष्टि से भी वे परम सफल हुए हैं। उनके इस कार्य के लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

इस ग्रंथ के संशोधन कार्य में जो उपयुक्त एवं मौलिक सूचनायें हमें श्री पण्डित शुक्रदेवप्रसादजी तिवारी (श्री विनय मोहन शर्मा) एम. ए., एल-एल. बी., प्रोफेसर, नागपुर महाविद्यालय से प्राप्त हुई हैं, उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

इस पुस्तक द्वारा मुमुक्षु एवं धर्मपिपासु व्यक्तियों को धर्म-पथ पर अग्रसर होने में सहायता मिले यही हमारी हार्दिक प्रार्थना है।

नागपुर,
दि० १५-१-१९४८

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
सूचना	१
१. सांख्यीय ब्रह्माण्डतत्त्व	११
२. प्रकृति और पुरुष	३१
३. सांख्य और अद्वैत	५६
४. आत्मा का मुक्त स्वभाव	७८
५. ब्रह्म रूप में प्रकाशित एक सत्ता	१०३
६. आत्मा का एकत्व	१२२
७. ज्ञानयोग का चरम आदर्श	१३७

हमारे अन्य प्रकाशन हिन्दी विभाग

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत-तीन भागों में-अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी,
'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण), मूल्य ६);
द्वितीय भाग-मूल्य ६); तृतीय भाग-मूल्य ७॥)
२. श्रीरामकृष्णलीलामृत-(विस्तृत जीवनी)-(द्वितीय संस्करण)-
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)
३. विवेकानन्दजी के संग में-(वार्तालाप)-शिष्य शरच्चन्द्र, मूल्य ५॥)

श्री स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

४. कर्मयोग (प्रथम संस्करण) १॥=)
५. हिन्दू धर्म (प्रथम संस्करण) १॥)
६. प्रेमयोग (द्वितीय संस्करण) १॥=)
७. भक्तियोग (द्वितीय संस्करण) १॥=)
८. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (द्वितीय संस्करण) १॥)
९. परिव्राजक (तृतीय संस्करण) १॥)
१०. प्राच्य और पाश्चात्य (तृतीय संस्करण) १॥)
११. शिकागो वक्तृता (चतुर्थ संस्करण) ॥=)
१२. मेरे गुरुदेव (तृतीय संस्करण) ॥=)
१३. हिन्दू धर्म के पक्ष में (प्रथम संस्करण) ॥=)
१४. वर्तमान भारत (द्वितीय संस्करण) ॥)
१५. पवहारी बाबा (प्रथम संस्करण) ॥)
१६. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ-स्वामी विवेकानन्द, स्वामी
शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥=)

मराठी विभाग

१. श्रीरामकृष्ण चरित्र-दो भागों में-प्रत्येक भाग का मूल्य २॥॥)
२. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा (द्वितीय संस्करण) ॥॥=)
३. श्रीरामकृष्ण परमहंस देव यांचें संक्षिप्त चरित्र १॥॥)
४. शिकागो-व्याख्यान (द्वितीय संस्करण)-श्रीस्वामी विवेकानन्द कृत ॥=)
५. माझे गुरुदेव-श्री स्वामी विवेकानन्द कृत ॥)
६. साधु नाग महाशय चरित्र ॥॥)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, भन्तोली, नागपुर, सी. पी.



स्वामी विवेकानन्द

धर्मविज्ञान

(सांख्य और वेदान्त तत्व की समालोचना)

सूचना

हम सब का यह जगत—यह पञ्चेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य जगत—यह जगत जिसका तत्व हम युक्ति और बुद्धि के बल से समझ पाते हैं—इसके दोनों ओर अनन्त, दोनों ओर अज्ञेय, चिर अज्ञात विद्यमान है। जो ज्ञानालोक जगत में धर्म के नाम से परिचित है, उसका तत्व इस जगत में ही ढूँढ़ना होता है; जिन सब विषयों की आलोचना से धर्मलाभ होता है वे सब इस जगत की ही घटनायें हैं। किन्तु धर्म स्वरूपतः अतीन्द्रिय—आँख, कान आदि से अगोचर भूमि की वस्तु है, इन्द्रिय से अतीत भूमि के अधिकार की वस्तु है, इन्द्रिय-राज्य की नहीं। वह सब प्रकार की युक्ति से भी अतीत है, इसलिये वह बुद्धि के राज्य की भी अधिकार-भुक्त नहीं है, वह दिव्य-दर्शन-स्वरूप है, वह मनुष्य के मन में ईश्वरीय अलौकिक प्रभावस्वरूप है, अज्ञात और अज्ञेय के समुद्र में झम्पप्रदान^१ है, यह अज्ञेय को ज्ञात की अपेक्षा हमें अधिक परिचित करा देता है, क्योंकि

१—कूद पड़ना।

धर्मविज्ञान

वह कभी 'ज्ञात' हो नहीं सकता। हमारा विश्वास है, मनुष्य-समाज के प्रारम्भ से ही मनुष्य के मन में इस धर्मतत्व की खोजबूँद चल रही है। जगत के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं आया, जब मनुष्य की युक्ति और मनुष्य की बुद्धि ने इस जगत के पार की वस्तु के लिए अनुसन्धान न किया हो, उसके लिए प्राणपण यत्न न किया हो।

हमारे छोटे से ब्रह्माण्ड में—इस मनुष्य के मन में—हम देख पाते हैं कि एक चिन्ता का उदय हुआ। कहाँ से वह चिन्ता उदय हुई, यह हम नहीं जानते। और जब वह लुप्त हुई, तब वह कहाँ गई, हम यह भी नहीं जानते। बहिर्जगत और अन्तर्जगत मानो एक ही मार्ग से चल रहे हैं, एक प्रकार की अवस्था के भीतर से दोनों को ही मानो चलना पड़ रहा है, दोनों ही मानो एक सुर में ही बज रहे हैं।

इस वक्तृतासमूह के द्वारा हम आपके निकट हिन्दुओं के इस मत की व्याख्या करने का यत्न करेंगे कि धर्म मनुष्य के भीतर से ही उत्पन्न है, वह बाहर की किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं है। हमारा विश्वास है, धर्मचिन्ता मनुष्य के पक्ष में प्रकृतिगत है; वह मनुष्य के स्वभाव के सहित ऐसे अच्छे-बुरे भाव से जड़ित है कि, जब तक मनुष्य अपने देह मन को त्याग नहीं कर पाता, जब तक वह चिन्ता और जीवन त्याग नहीं कर पाता, तब तक उसके लिए धर्मत्याग असम्भव है। जितने दिन मनुष्य में चिन्ता रहती रहेगी,

उतने दिन यह यत्न भी चलेगा और उतने दिन किसी न किसी आकार में उसका धर्म प्रत्येक स्थिति में जीवित रहेगा ही। इसीलिए हमें जगत में नाना प्रकार के धर्म दिखाई पड़ते हैं। अवश्य इसकी चर्चा और आलोचना से मस्तिष्क परिभ्रमित हो जा सकता है, किन्तु हम लोगों में से अनेक व्यक्ति जिस प्रकार इसे वृथा कल्पनामात्र समझते हैं, उस प्रकार का उसे कहा नहीं जा सकता। अनेक आपातविरोधी विभिन्न धर्मरूप विशृङ्खलता के भीतर सामञ्जस्य है, इन सब अ-सुरों और अ-तालों में भी ऐक्यतान है, जो वह सुनने को प्रस्तुत है, वे यह ऐक्यतान का सुर सुन पायेंगे।

वर्तमान काल में सब प्रश्नों में से प्रधान प्रश्न यह है,— माना—ज्ञात और ज्ञेय के दोनों ओर अज्ञेय और अनन्त अज्ञात विद्यमान है—किन्तु इस अनन्त अज्ञात को जानने का यत्न क्यों है? क्यों हम ज्ञात को लेकर ही सन्तुष्ट नहीं होते? क्यों हम भोजन, पान और समाज का कुछ कल्याण करके ही सन्तुष्ट नहीं रहते? यही भाव आजकल चहुँ ओर सुनने को मिलता है। बहुत बड़े बड़े विद्वान अध्यापक से लेकर अनर्गल वृथावाक्यव्ययकारी शिशु के मुँह से भी हम आजकल सुनते रहते हैं—जगत का उपकार करो—यही एकमात्र धर्म है, जगत से अतीत सत्ता की समस्या लेकर अस्थिर होने का कोई फल नहीं है। यह भाव आजकल इतना अधिक प्रबल हो गया है कि यह एक स्वतःसिद्ध सत्य के रूप में उपस्थित है। किन्तु सौभाग्यक्रम से इस जगदतीत सत्ता

धर्मविज्ञान

के तत्व का अनुसन्धान किये बिना जीवित रहने का अवलम्ब हमारे निकट नहीं है। यह वर्तमान व्यक्त जगत उसी अव्यक्त का एक अंश मात्र है। यह पञ्चेन्द्रिय के द्वारा अनुभूत जगत मानो उसी अनन्त आध्यात्मिक जगत का एक क्षुद्र अंशस्वरूप है, हमारी इन्द्रिय-अनुभूति की भूमि में आ गड़ा है। इसलिए उस अतीत जगत को बिना जाने किस प्रकार से उसके इस क्षुद्र प्रकाश की व्याख्या हो सकती है, उसे समझा जा सकता है? कहा जाता है, साक्रेटिस एक दिन एथेन्स में वक्तृता दे रहे थे, ऐसे समय उनसे एक ब्राह्मण की भेंट हुई—ये भारत से ग्रीस देश में गये थे। साक्रेटिस उस ब्राह्मण से बोले, “मनुष्य को जानना ही मनुष्यजाति का सर्वोच्च कर्तव्य है—मनुष्य ही मनुष्य की सर्वोच्च आलोचना की वस्तु है।” ब्राह्मण ने उसी क्षण उत्तर दिया, “ईश्वर को जब तक आप नहीं जान लेते, तब तक मनुष्य को किस प्रकार से जानियेगा?” ये ईश्वर, यही अनन्त अज्ञात या निरपेक्ष सत्ता या अनन्त या नामांतीत वस्तु—उन्हें जिस नाम से इच्छा हो उसी नाम से पुकारा जाता है—ये ही वर्तमान जीवन के, जो कुछ ज्ञात है और जो कुछ ज्ञेय है, सब के ही एकमात्र युक्तियुक्त व्याख्या-स्वरूप हैं। चाहे जिस वस्तु की बात—सम्पूर्ण जड़ वस्तु की बात—लीजिये। केवल जड़तत्त्वसम्बन्धीय विज्ञान में से कोई भी एक, यथा—रसायन, पदार्थविद्या, गणित या प्राणितत्त्वविद्या की बात लीजिये—उसकी विशेष रूप से आलोचना कीजिये, क्रमशः यह तत्त्वानुसन्धान अग्रसर हो, देखियेगा—स्थूल क्रमशः सूक्ष्म

अतिसूक्ष्म पदार्थ में लय हो रहा है—अन्त में आपको ऐसे स्थान में आना होगा, जहाँ इन सब जड़ वस्तुओं को छोड़ कर इन्हें अतिक्रम करके अर्थात् फाँद कर अजड़ में जाना ही होगा। सब विद्याओं में ही स्थूल क्रमशः सूक्ष्म में मिल जाता है, पदार्थविद्या दर्शन में पर्यवसित होती है।

इसी प्रकार मनुष्य को बाध्य होकर जगदतीत सत्ता की आलोचना में उतरना होता है। यदि हम उसे जान न पायें, तो जीवन मरूभूमि बन जायेगा, मानवजीवन वृथा होगा। यह बात कहने में अच्छी है कि, वर्तमान में जो देख रहे हो, वह सब लेकर ही तृप्त रहो; गाय, कुत्ते और अन्यान्य पशुगण इसी प्रकार वर्तमान के द्वारा ही सन्तुष्ट हैं, और इसी कारण वे पशु बने हैं। अतएव यदि मनुष्य वर्तमान लेकर सन्तुष्ट रहे और जगदतीत सत्ता का सकल अनुसन्धान एकदम परित्याग कर दे, तो मानवजाति को पशु की भूमि में फिर से आना होगा। धर्म—जगदतीत सत्ता का अनुसन्धान ही—मनुष्य और पशु में प्रभेद बनाये रखता है। यह वचन अत्यन्त सुन्दर है कि सब प्राणियों में से मनुष्य ही स्वभावतः ऊपर की ओर दृष्टि उठा कर देखता है; अन्यान्य सब जन्तु ही स्वभावतः नीचे की ओर झुके रहते हैं। यही ऊर्ध्वदृष्टि, ऊपर की ओर गमन और पूर्णत्व के अनुसन्धान को ही ‘परित्राण’ अथवा ‘उद्धार’ कहते हैं और ज्यों ही मनुष्य उच्चतर दिशा की ओर गमन करना आरम्भ करता है, त्यों ही वह इसी परित्राणस्वरूप सत्य की

धर्मावज्ञान

धारणा की दिशा में अपने को अग्रसर करता है। परित्राण—अर्थ, वेशभूषा अथवा घर पर निर्भर नहीं करता, वह मानव-मस्तिष्क के भीतर की आन्धान्ध भाव-रत्नराजि के तारतम्य पर निर्भर करता है। उसमें ही मानव-जाति की उन्नति है, वही भौतिक और मानसिक सर्वविध उन्नति का मूल है; इसी प्ररोचक शक्ति-बल से, इस उत्साह-बल से ही मानव-जाति सम्मुख अग्रसर होती रहती है।

धर्म प्रचुर अन्नपान में नहीं है, सुरम्य भवन में भी नहीं। बार बार धर्म के विरुद्ध आप यह आपत्ति सुनियेगा, “धर्म के द्वारा क्या उपकार हो सकता है? वह क्या दारिद्र्य का दारिद्र्य दूर कर सकता है?” मान लीजिये, वह यह नहीं कर सकता, किन्तु इतने से ही क्या धर्म असत्य प्रमाणित हो गया? मान लीजिये, आप एक ज्योतिष का सिद्धान्त प्रमाणित करने का यत्न कर रहे हैं—एक शिशु ने खड़े होकर प्रश्न किया, “इससे क्या मिठाई मिलती है?” आपने उत्तर दिया, “नहीं, इससे मिठाई नहीं मिलती।” तब शिशु कह उठा, “तब यह सिद्धान्त किसी काम का नहीं है।” शिशुगण अपनी निज की दृष्टि से अर्थात् किस वस्तु में कितनी मिठाई मिलती है, इस हिसाब से समग्र जगत का विचार कर लेते हैं। जो लोग अज्ञान से घिरे होने के कारण शिशु-सदृश हैं, जगत में उन सब शिशुओं का विचार भी उसी प्रकार का है। निम्न वस्तु की दृष्टि से उच्चतर वस्तु का विचार करना कदापि उचित नहीं है। प्रत्येक विषय का विचार उसकी गुरुता के हिसाब से करना होगा। अनन्त का विचार

अनन्त की गुरुता के हिसाब से करना होगा । धर्म मानवजीवन का सर्वांश है, केवल वर्तमान नहीं,—भूत, भविष्यत्, वर्तमान—सर्वांश-व्यापी है । अतएव यह, अनन्त आत्मा और अनन्त ईश्वर के बीच अनन्त सम्बन्धस्वरूप है । अतएव क्षणिक मानवजीवन के ऊपर उसका कार्य देख कर उसके मूल्य का विचार करना क्या न्यायसङ्गत है ?—कदापि नहीं । यह तो हुआ धर्म के द्वारा क्या क्या नहीं होता, इसका विचार ।

अब प्रश्न आता है, धर्म के द्वारा क्या वास्तव में कोई फल होता है ? हाँ, होता है, उससे मानव अनन्त जीवन प्राप्त करता है । मनुष्य वर्तमान में जो है, वह इस धर्म की ही शक्ति से हुआ है, और उससे ही यह मनुष्य नामक प्राणी देवता बनेगा । धर्म यही करने में समर्थ है । मानव समाज से धर्म को हटा दीजिये—क्या शेष बचेगा ? ऐसा होने पर संसार हिंस्र जन्तुओं से घिरा अरण्य बन जायेगा । इन्द्रिय-सुख मानवजीवन का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान ही सकल प्राणी का लक्ष्य है । हम देखते हैं, पशुगण इन्द्रियसुख में जितनी प्रीति अनुभव करते हैं, मनुष्य अपनी बुद्धि-शक्ति की परिचालना में उसकी अपेक्षा अधिक उच्चतर कोटि का सुख अनुभव कर लेता है; और यह भी हम देख पाते हैं, बुद्धि और विचारशक्ति की परिचालना की अपेक्षा भी मनुष्य आध्यात्मिक सुख में अधिकतर सुखबोध कर लेता है । अतएव अध्यात्मज्ञान को निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान कहना होगा । यह ज्ञान-लाभ होने पर ही साथ साथ आनन्द प्राप्त होगा ।

धर्मावेज्ञान

इस जगत की ये सब वस्तुएँ उस प्रकृत ज्ञान और आनन्द की छाया मात्र हैं—उससे तीन चार स्तर नीचे के प्रकाश मात्र ।

और एक प्रश्न है—हमारा चरम लक्ष्य क्या है ? आजकल यह कहा जाता है कि मनुष्य अनन्त उन्नतिपथ में चल रहा है—वह क्रमशः सम्मुख अग्रसर हो रहा है, किन्तु उसके लाभ करने का कोई चरम लक्ष्य नहीं है । इस “क्रमशः समीपवर्ती होने, तथापि कभी लक्ष्य प्राप्त न करने” का अर्थ जो भी हो और यह तब जितना भी अद्भुत हो, तथापि यह असम्भव है, यह बात अत्यन्त सुगमता से ही समझी जा सकती है । सरल रेखा की क्या कभी किसी प्रकार की गति हो सकती है ? एक सरल रेखा को अनन्त फैलाने पर वह एक गोलाकार बन जाती है; वह जहाँ से आरम्भ हुई थी वहीं दुबारा लौट आती है । जहाँ से हमने आरम्भ किया है वहीं अवश्य ही अन्त करना होगा; और जब ईश्वर से आपकी गति आरम्भ हुई है, तब ईश्वर में ही अवश्य फिर लौटना होगा । तब इतने समय में फिर करना क्या रह जाता है ? उस अवस्था में पहुँचने के पक्ष में उपयोगी विशेष विशेष छोटे-मोटे कार्य करना होता है—अनन्त काल तक यह करना पड़ता है ।

एक और प्रश्न आता है—हम उन्नति-पथ में अग्रसर होते होते क्या धर्म के नये नये सत्य का आविष्कार नहीं करेंगे ? हाँ भी, नहीं भी ! प्रथमतः यह समझना होगा कि धर्म के सम्बन्ध में अधिक और कुछ जानने को नहीं है, सब ही जाना जा चुका है । जगत के सब धर्म में, आप देखियेगा कि, उस धर्म के अवलम्बनकारी सदैव कहते

हैं, हमारे भीतर एक एकत्व है। अतएव ईश्वर के सहित आत्मा के एकत्व-ज्ञान की अपेक्षा और अधिक उन्नति नहीं हो सकती। ज्ञान का अर्थ इस एकत्व का आविष्कार ही है। हम आप सब को नरनारीरूप में पृथक् देखते हैं—यही बहुत्व है। जब हम इन दोनों भावों को एकत्र देखें और आप लोगों को केवल मानवजाति के नाम से स्मरण करें, तब वह वैज्ञानिक ज्ञान हुआ। उदाहरण स्वरूप रसायनशास्त्र की बात लीजिये। रासायनिकगण सब प्रकार की ज्ञात वस्तुओं को उनके मूल धातुओं का रूप देने का यत्न कर रहे हैं, और यदि सम्भव हुआ, तो एक धातु से ही वे सब वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, यह भी आविष्कार करने का यत्न कर रहे हैं। ऐसा समय आ सकता है, जब वे सब धातुओं की मूलभूत एक धातु आविष्कार करेंगे। यदि इस अवस्था में कभी वे उपस्थित हों, तब वे इससे ऊपर फिर आगे नहीं बढ़ सकेंगे; तब रसायन विद्या सम्पूर्ण होगी। धर्म-विज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि हम पूर्ण एकत्व का आविष्कार कर सकें तो उससे अधिक उन्नति फिर नहीं हो सकती।

इसके आगे का प्रश्न यह है, इस प्रकार के एकत्व का लाभ क्या सम्भव है? भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही धर्म और दर्शन के विज्ञान का आविष्कार का यत्न चल रहा है; क्योंकि पाश्चात्य देश में जिस प्रकार इन दोनों को पृथक् भाव से देखना ही प्रचलित है, हिन्दूगण इन दोनों में उस प्रकार का प्रभेद नहीं देखते। हम धर्म और दर्शन को एक वस्तु के ही दो विभिन्न

धर्मविज्ञान

भाव मानते हैं, और हमारी धारणा है—दोनों को समभाव से युक्ति और वैज्ञानिक सत्य में प्रतिष्ठित होना चाहिये। आगे की वक्तृताओं में हम पहले भारत का—केवल भारत का क्यों, समग्र जगत का—सर्वप्राचीन दर्शनसमूह में से श्रेष्ठतम सांख्यदर्शन समझाने का यत्न करेंगे। इसके श्रेष्ठ व्याख्याता कपिल सकल हिन्दू-मनोविज्ञान के जनक हैं, और वे जिस प्राचीन दर्शनप्रणाली का उपदेश दे गये हैं, वह इस समय भी आजकल के भारतीय सकल प्रचलित दर्शनप्रणाली-समूह की भित्तिस्वरूप है। इन सब दर्शनों के अन्याय विषयों में चाहे जितना मतभेद क्यों न रहे, सब ने सांख्य का मनोविज्ञान ग्रहण किया है।

इसके पश्चात् हम यह दिखाने का यत्न करेंगे कि, सांख्य के स्वाभाविक परिणति-स्वरूप वेदान्त किस प्रकार उसके ही सिद्धान्तों को लेकर और अधिक दूर अग्रसर हुआ है। कपिल के द्वारा उपदेश की हुई सृष्टि अथवा ब्रह्माण्डतत्त्व के सहित एकमत होने पर भी वेदान्त द्वैतवाद को चरम सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं है। वेदान्त, विज्ञान और धर्म दोनों के चरम लक्ष्य स्वरूप चरम एकत्व का अनुसन्धान कर गया है। इस विषय को उसने किस उपाय से साधित किया है, उसे इस वक्तृतावली की सब से अन्तिम वक्तृता में दिखाने का यत्न किया जायेगा।

प्रथम अध्याय

सांख्यीय ब्रह्माण्डतत्त्व

हमारे सम्मुख दो शब्द हैं—क्षुद्र ब्रह्माण्ड और बृहत् ब्रह्माण्ड; अन्तः और बहिः। हम अनुभूति के द्वारा ही इन दोनों से सत्य लाभ करते हैं; आभ्यन्तर अनुभूति और बाह्य अनुभूति। आभ्यन्तर अनुभूति के द्वारा संगृहीत सत्यसमूह मनोविज्ञान, दर्शन और धर्म के नाम से परिचित है, और बाह्य अनुभूति से भौतिक विज्ञान की उत्पत्ति हुई है। अब बात यह है जो सम्पूर्ण सत्य है, उसका इन दोनों जगत की अनुभूति के सहित समन्वय होगा। क्षुद्र ब्रह्माण्ड बृहत् ब्रह्माण्ड के सत्यसमूह की साक्षी प्रदान करेगा, उसी प्रकार बृहत् ब्रह्माण्ड भी क्षुद्र ब्रह्माण्ड के सत्य को स्वीकार करेगा। भौतिक सत्य की अविकल छवि अन्तर्जगत में रहनी चाहिये, और अन्तर्जगत के सत्य का प्रमाण भी बहिर्जगत में मिलना चाहिये। तथापि हम कार्यरूप में देखते हैं, इन सब सत्तों का अधिकांश ही सर्वदा परस्पर विरोधी है। जगत के इतिहास के एक युग में दिखाई पड़ता है, “अन्तर्वादी” की प्रधानता हुई; त्यों ही उन्होंने “बहिर्वादी” के सहित विवाद आरम्भ किया। वर्तमान काल में “बहिर्वादी” अर्थात् वैज्ञानिकों ने प्रधानता प्राप्त की है, और उन्होंने मनस्तत्त्ववित् और दार्शनिकगण के अनेक सिद्धान्तों को उड़ा दिया है। अपने क्षुद्र ज्ञान से हमने जो कुछ

धर्मविज्ञान

समझा है, उसके अनुसार हम देखते हैं, मनोविज्ञान के प्रकृत सार-भाग के सहित आधुनिक जड़ विज्ञान के सारभाग का सम्पूर्ण सामञ्जस्य है ।

सब व्यक्तियों को सब विषयों में बड़ा बनने की शक्ति प्रकृति ने नहीं दी है; इसी प्रकार उसने सब जातियों का गठन इस रूप में नहीं किया है कि वे सब प्रकार की विद्या का अनुसन्धान करने में समान शक्तिसम्पन्न हों। आधुनिक यूरोपीय जातियाँ बाह्य भौतिक तत्व के अनुसन्धान में सुदक्ष हैं, किन्तु प्राचीन यूरोपीयगण मनुष्य के आभ्यन्तर भाग के अनुसन्धान में उतने पटु नहीं थे। दूसरी ओर प्राच्यगण भी बाह्य भौतिक जगत के अनुसन्धान में उतने दक्ष नहीं थे, किन्तु अन्तस्तत्त्व की गवेषणा में उन्होंने विशेष दक्षता का परिचय दिया है। इसीलिए हम देखते हैं, प्राच्यजाति के भौतिक जगत के तत्वसम्बन्धीय मत के सहित पाश्चात्य वैज्ञानिकों का मत नहीं मिलता, और पाश्चात्य मनोविज्ञान प्राच्यजाति के तत्वसम्बन्धीय उपदेशों से नहीं मिलता। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने प्राच्य भूतविज्ञानवादियों की समालोचना की है। तिस पर भी दोनों ही सत्य की भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं, और हम जैसा पहले ही निर्धारित कर चुके हैं, चाहे जिस विद्या में हो, प्रकृत सत्य में कभी परस्पर विरोध रह नहीं सकता, आभ्यन्तर सत्यसमूह के सहित बाह्य सत्य का समन्वय है।

आधुनिक ज्योतिर्विद् और वैज्ञानिकों का ब्रह्माण्ड की सृष्टि के सम्बन्ध में क्या मत है, यह हम जानते हैं, और यह भी जानते हैं

कि, उस मत ने प्राचीन दल के धर्मवादियों की किस प्रकार भयानक क्षति की है; ज्यों ज्यों एक एक नया नया वैज्ञानिक आविष्कार होता है, त्यों त्यों ही मानो उनके घर में एक एक करके बम गिरता जाता है, और इसीलिए उन्होंने सब युग में इन समस्त वैज्ञानिक अनुसन्धानों को बन्द कर देने का यत्न किया है। प्रथमतः हम यह आलोचना करेंगे कि ब्रह्माण्ड तत्त्व और उसके आनुषङ्गिक विषय के सम्बन्ध में मनस्तत्त्व और विज्ञान की दृष्टि से प्राच्य जाति की धारणा क्या थी; तब दिखाई पड़ेगा कि आधुनिक विज्ञान की सकल आधुनिकतम आविष्कारों के सहित उनका कितना आश्चर्यप्रद सामञ्जस्य है, और यदि कहीं कुछ असम्पूर्ण रह जाता है, तो आधुनिक विज्ञान की दिशा में। अँगरेजी में हम सब Nature शब्द का व्यवहार करते हैं। प्राचीन हिन्दू दार्शनिकगण उसके लिए दो विभिन्न संज्ञाओं का प्रयोग करते थे; प्रथम, 'प्रकृति'—अँगरेजी के Nature शब्द के सहित यह प्रायः समानार्थक है; और दूसरा उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक नाम है—'अव्यक्त'—जो व्यक्त अथवा प्रकाशित अथवा भेदात्मक नहीं है—उससे ही सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, उससे अणु-परमाणु सकल आये हैं, उससे ही भूत, शक्ति, मन, बुद्धि सब आये हैं। यह अत्यन्त विस्मयकर है कि भारतीय दार्शनिकगण अनेक युग पहले ही कह गये हैं कि, मन सूक्ष्म जड़मात्र है; क्योंकि हमारे आधुनिक जड़वादियों ने—देह जिस प्रकार प्रकृति से उत्पन्न है, मन भी उसी प्रकार है—इसके अतिरिक्त और अधिक क्या दिखाने का

धर्मविज्ञान

यत्न किया है ? चिन्ता के सम्बन्ध में भी यही बात है, और क्रमशः हम देखेंगे, बुद्धि भी उसी एक ही अव्यक्त नामधेय प्रकृति से उत्पन्न हुई है।

प्राचीन आचार्यगण ने इस अव्यक्त का लक्षण बताया है—
“तीन शक्तियों की साम्यावस्था।” उनमें से एक का नाम सत्व, दूसरी का रजः और तीसरी का तमः है। तमः सर्वनिम्नतम शक्ति है—आकर्षणस्वरूप; रजः उसकी अपेक्षा किञ्चित् उच्चतर है—विकर्षण-स्वरूप; तथा सर्वोच्च ज्यो शक्ति है वह इन दोनों की संयमस्वरूप है—वही सत्व है। अतएव ज्यों ही ये आकर्षण और विकर्षण दोनों शक्तियाँ सत्व के द्वारा पूर्णतः संयत होती हैं अथवा सम्पूर्ण साम्यावस्था में रहती हैं, तब सृष्टि अथवा विकार का अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु ज्यों ही यह साम्यावस्था नष्ट होती है, त्यों ही उनका सामञ्जस्य नष्ट होता है और उनमें से एक शक्ति दूसरी शक्तियों की अपेक्षा प्रबलतर हो उठती है। त्यों ही परिवर्तन तथा गति का आरम्भ होता है और इन सब का परिणाम चलता रहता है। इसी प्रकार का व्यापार चक्र की गति से चल रहा है। अर्थात् एक समय आता है, जब साम्यावस्था भङ्ग होती है, तब ये विभिन्न शक्तिसमूह विभिन्न रूप से सम्मिलित होने लगते हैं और तब ही यह ब्रह्माण्ड बहिर्गत होता है। और एक समय आता है, जब सब वस्तुओं का ही उसी आदिम साम्यावस्था में फिर से लौटने का उपक्रम चलता है, और ऐसा भी समय आता है जब जो कुछ व्यक्तभावापन्न है, उस

सब का सम्पूर्ण अभाव हो जाता है। फिर कुछ समय के पश्चात् यह अवस्था नष्ट हो जाती है तथा शक्तियों के बाहर की ओर प्रसारित होने का उपक्रम आरम्भ होता है, तथा ब्रह्माण्ड धीरे धीरे तरङ्गाकार में बहिर्गत होता रहता है। जगत की सब गति तरङ्ग के आकार में ही होती है—एक बार उत्थान, फिर पतन।

प्राचीन दार्शनिकगण में से किसी किसी का मत यह है कि, समग्र ब्रह्माण्ड ही एकदम कुछ दिनों के लिए लयप्राप्त होता है; और अन्य किसी किसी का मत है कि, ब्रह्माण्ड के अंशविशेष में ही यह प्रलय का व्यापार संघटित होता है। अर्थात् मान लीजिये, हमारा यह सौरजगत लयप्राप्त होकर अव्यक्त अवस्था में चला गया, किन्तु उसी समय अन्यान्य सहस्र सहस्र जगत में उसके ठीक विपरीत काण्ड चल रहा है। हम दूसरे मत के—अर्थात् प्रलय एक साथ सब जगत में संघटित नहीं होता, विभिन्न जगत में विभिन्न व्यापार चलता रहता है—इस मत के ही अधिक पक्षपाती हैं। जो भी हो, मूल बात दोनों में भी एक है, अर्थात् जो कुछ हम देख रहे हैं, यह समग्र प्रकृति ही क्रम क्रम से उत्थान-पतन के नियम से अग्रसर हो रही है। इसी सम्पूर्ण साम्यावस्था में गमन को कल्पान्त कहते हैं। समग्र कल्प की—इस क्रमविकास और क्रमसङ्कोच की तुलना भारत के ईश्वर ने ईश्वर के निःश्वास प्रश्वास के सहित की है। मानो ईश्वर के प्रश्वास त्याग करने से उनसे यह जगत बहिर्गत होता है, और वह उनमें ही फिर लौट जाता है। जब

धर्मविज्ञान

प्रलय होता है, तब जगत की अवस्था क्या होती है ! वह उस समय भी वर्तमान रहता है, तथापि सूक्ष्म रूप में अथवा कारणावस्था में रहता है। देशकालनिमित्त वहाँ भी वर्तमान हैं, तथापि वे केवल अव्यक्त भाव को प्राप्त हो गये हैं। इस अव्यक्तावस्था में प्रत्यावर्तन को क्रमसङ्कोच अथवा प्रलय कहते हैं। प्रलय और सृष्टि अथवा क्रमसङ्कोच और क्रम अभिव्यक्ति अनन्त काल से चल रहे हैं, अतएव हम जब आदि अथवा आरम्भ की बात करते हैं, तब हम एक कल्प के आरम्भ की ओर ही लक्ष्य रखते हैं।

ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण बाह्य भाग को—आजकल हम जिसे स्थूल जड़ कहते हैं—प्राचीन हिन्दूगण भूत कहते थे। उनके मतानुसार उनमें से एक, शेष सब का कारण है, क्योंकि अन्यान्य सब भूत इसी एक भूत से उत्पन्न हुए हैं। इस भूत को आकाश की संज्ञा प्राप्त है। आजकल 'ईथर' शब्द से जो व्यक्त होता है, यह बहुत कुछ उसके सदृश है, यद्यपि पूर्णतः एक नहीं है। आकाश ही आदिभूत है—उससे ही सब स्थूल वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, तथा उसके सहित प्राण नाम की और एक वस्तु रहती है—हम क्रमशः देखेंगे, वह क्या है। जितने दिन सृष्टि रहती है, उतने दिन ये प्राण और आकाश रहते हैं। उन्होंने नाना रूप में मिल कर इन सब स्थूल प्रपञ्चों का गठन किया है, अन्त में कल्पान्त में ये लय प्राप्त होकर आकाश और प्राण के अव्यक्त रूप में प्रत्यावर्तन करते हैं। जगत में प्राचीनतम शास्त्र ऋग्वेद में सृष्टिवर्णनात्मक अपूर्व कवित्वमय श्लोक हैं; यथा—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं * * *

किमावरीवः * * *

तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतम्

इत्यादि ।

ऋग्वेद, दशम मण्डल, १२९ ।

(नासदीय) सूक्त ।

अर्थात् जब सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था, तम के द्वारा तम घिरा था, तब क्या था ?

और इसका उत्तर दिया गया है कि, 'आनीदवातम्' इत्यादि । (उपर्युक्त सूक्त ।)

ये (वे ही अनादि अनन्त पुरुष) गतिशून्य अथवा निश्चेष्ट भाव में थे ।

प्राण और आकाश तब उसी अनन्त पुरुष में सुप्त भाव में थे, किन्तु किसी प्रकार का व्यक्त प्रपञ्च नहीं था । इस अवस्था को अव्यक्त कहते हैं—उसका ठीक शब्दार्थ स्पन्दनरहित अथवा अविज्ञान है । क्रमविकास के लिए एक नूतन कल्प के आरम्भ में यह अव्यक्त स्पन्दित होता रहता है, और प्राण के आकाश के ऊपर क्रमागत घात के पश्चात् घात देते देते क्रमशः वह स्थूल होता रहता है, और क्रमशः आकर्षण विकर्षण दोनों शक्तियों के बल से परमाणु गठित होते हैं । ये फिर और अधिक स्थूल होकर द्रव्यणुकादि

धर्मविज्ञान

का रूप धारण करते हैं और सब से अन्त में प्राकृतिक प्रत्येक पदार्थ जिसके द्वारा निर्मित है, उन्हीं सब विभिन्न स्थूल भूत का रूप धारण करते हैं, अर्थात् उनमें परिणत होते हैं।

हम साधारणतः देखते हैं, लोग इन सब बातों का अत्यन्त अद्भुत अँगरेजी अनुवाद किया करते हैं। अनुवादकगण अनुवाद के लिए प्राचीन दार्शनिकगण और उनके टीकाकारगण की सहायता ग्रहण नहीं करते, और उनमें भी इतनी विद्या नहीं है कि वे स्वतः यह सब समझ सकें। वे भूतसमूह का वायु, अग्नि इत्यादि के रूप में अनुवाद किया करते हैं। यदि वे भाष्यकारगण के भाष्यों की आलोचना करते, तो वे देख पाते कि उन्होंने इन सब की ओर लक्ष्य नहीं किया। प्राण के बार बार आघात के द्वारा आकाश से वायु अथवा आकाश की स्पन्दहीन अवस्था उपस्थित होती है और उसके द्वारा ही फिर बाष्पीय भूत की उत्पत्ति होती है। स्पन्दन के क्रमशः द्रुत से द्रुततर होते रहने पर उत्ताप अथवा तेज की उत्पत्ति होती है। क्रमशः उत्ताप कम होकर शीतल होता रहता है, तब यह बाष्पीय पदार्थ तरल भाव धारण करता है, उसे अप् कहते हैं। अन्त में वह कठिन आकार प्राप्त करता है, उसका नाम पृथिवी है! सब से पहले आकाश की स्पन्दनशील अवस्था होती है, उसके पश्चात् उत्ताप उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् वह तरल हो जाता है, तथा जब और अधिक घनीभूत होता है, तब वह कठिन जड़पदार्थ का आकार धारण करता है। ठीक इसके विपरीत क्रम में सब अव्यक्तावस्था को प्राप्त होते हैं। सब

कठिन वस्तुएँ तरल आकार में परिणत होती हैं, तरलावस्था लुप्त होकर केवल उत्तापराशि के रूप में परिणत होती है, वह फिर धीरे धीरे बाष्पीय भाव धारण करती है, फिर परमाणुसमूह विशिष्ट होना आरम्भ करते हैं और सब से अन्त में सब शक्तियों की सामञ्जस्य-अवस्था उपस्थित होती है। तब स्पन्दन बन्द होता है—इसी प्रकार कल्पान्त होता है। हमें आधुनिक ज्योतिष से ज्ञात होता है कि हमारी इस पृथिवी और सूर्य का यही अवस्था-परिवर्तन चल रहा है, अन्त में यह कठिन आकार की पृथिवी गल कर तरल आकार और अन्त में बाष्प का आकार धारण करेगी।

प्राण स्वयँ आकाश की सहायता के अभाव में कोई काम नहीं कर पाता। उसके सम्बन्ध में हम केवल इतना ही जानते हैं कि, वह गति अथवा स्पन्दन है। हम जो कुछ गति देख पाते हैं, वह इस प्राण का ही विकार स्वरूप है; और जड़ अथवा भूत पदार्थ के नाम से जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ आकृतिमान् अथवा बाधात्मक है, वह इसी आकाश का विकार है। यह प्राण स्वयँ नहीं रह सकता अथवा किसी मध्यवर्ती के बिना काम नहीं कर सकता, और वह किसी अवस्था में—वह केवल प्राणरूप में ही वर्तमान रहे या गुरुत्वाकर्षण अथवा केन्द्रातिगाशक्ति रूप प्राकृतिक अन्यान्य शक्ति में ही परिणत हो जाय,—वह कभी आकाश से पृथक् नहीं रह सकता। आपने कभी भूत के बिना शक्ति, अथवा शक्ति के बिना भूत नहीं देखा है। हम जिन सब को भूत अथवा

धर्मविज्ञान

शक्ति कहते हैं, वे केवल इन दोनों के स्थूल प्रकाश मात्र हैं, और इनकी अति सूक्ष्मावस्था को ही प्राचीन दार्शनिकगण ने प्राण और आकाश की संज्ञा दी है। प्राण को आप जीवनीशक्ति कह सकते हैं, किन्तु उसको केवल मनुष्य के जीवन में सीमाबद्ध करने से अथवा आत्मा के सहित अभिन्न समझने से भी काम नहीं चलेगा। अतएव सृष्टि—प्राण और आकाश के संयोग से उत्पन्न है तथा उसका आदि भी नहीं है, अन्त भी नहीं है; उसका आदि अन्त कुछ भी नहीं रह सकता, क्योंकि, अनन्त काल से वह चल रही है।

उसके पश्चात् और एक अत्यन्त दुख्ख और जटिल प्रश्न उत्पन्न होता है। अनेक यूरोपीय दार्शनिकगण ने कहा है, 'हम' हैं, इसीलिए यह जगत है, और हम यदि न रहें तो यह जगत भी नहीं रहेगा। कभी कभी यह बात इस प्रकार प्रकाशित की जाती है, यथा, यदि जगत के सब व्यक्ति मर जायें, मनुष्य-जाति फिर यदि न रहे, अनुभूति और बुद्धिशक्ति से सम्पन्न कोई प्राणी यदि जीवित न रहे, तो यह जगत्प्रपञ्च भी अधिक जीवित नहीं रहेगा। यह बात असम्भव के समान प्रतीत हो सकती है, किन्तु क्रमशः हम स्पष्ट ही देखेंगे कि, इसे प्रमाणित किया जा सकता है। किन्तु ये यूरोपीय दार्शनिकगण यह तत्व जानते हुए भी मनोविज्ञान के अनुसार उसकी व्याख्या नहीं कर पाते। उन्होंने इस तत्व का आभास मात्र प्राप्त किया है।

प्रथमतः, इन प्राचीन मनोवैज्ञानिकगण का और एक सिद्धान्त

लेकर आलोचना करेंगे—वह भी कुछ अद्भुत प्रकार का है—वह यह है कि स्थूल भूत सूक्ष्म भूत से उत्पन्न है। जो भी स्थूल है, वह कुछ सूक्ष्म वस्तुओं का समवाय स्वरूप है। अतएव स्थूल भूत-समूह भी कुछ सूक्ष्म वस्तुओं से गठित है—इन्हें संस्कृत भाषा में तन्मात्रा कहते हैं। हम एक फूल सूँघ रहे हैं, उसकी गन्ध प्राप्त करना चाहने पर कुछ अवश्य हमारी नाक के संस्पर्श में आ रहा है। फूल विद्यमान है—वह ‘कुछ’ हमारी ओर चला आ रहा है, हम देख नहीं पा रहे हैं; किन्तु यदि कुछ हमारी नाक के संस्पर्श में आता हो, तो हम गन्ध किस प्रकार प्राप्त कर रहे हैं? उस फूल से जो कुछ निकल कर हमारी नाक के संस्पर्श में आ रहा है, वही तन्मात्रा है, उस फूल का ही अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, वह इतना सूक्ष्म है कि, यदि हम सारे दिन सब मिल कर उसकी गन्ध सूँघें, तिस पर भी उस फूल के परिमाण का कोई हास-बोध नहीं होगा। ताप, आलोक, एवं अन्यान्य सब वस्तुओं के सम्बन्ध में भी यही एक ही बात है। ये तन्मात्राएँ फिर परमाणु रूप में पुनः विभक्त हो सकती हैं, इस परमाणु के परिमाण को लेकर विभिन्न दार्शनिकगण का विभिन्न मत है; किन्तु हम जानते हैं, वे सब मतवाद मात्र हैं; इसलिए हमने विचार के स्थल में उन सब को परित्याग कर दिया। हमारे लिए इतना ही जानना यथेष्ट है कि, जो कुछ स्थूल है, वह सब अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ के द्वारा निर्मित है। पहले हम प्राप्त करते हैं स्थूल भूत—हम उसे बाहर अनुभव करते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म भूत—इस सूक्ष्म भूत के द्वारा ही स्थूल भूत गठित है, उसके ही सहित हमारी इन्द्रियों

धर्मविज्ञान

अर्थात् नाक, आँख और कान आदि की स्नायुओं का संयोग होता है। जो ईथर-तरङ्ग हमारी आँखों को स्पर्श करता है, उसे हम देख नहीं पाते, तथापि हम जानते हैं, आलोक देख पाने के पहले आँखों के स्नायुओं के सहित उसका संयोग आवश्यक है। श्रवण के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। हमारे कान के संस्पर्श में जो तन्मात्राएँ आती हैं, उन्हें हम देख नहीं पाते, किन्तु हम जानते हैं, वे अवश्य ही हैं। इन तन्मात्राओं का फिर कारण क्या है? हमारे मनस्तत्त्वविदगण ने इसका एक अद्भुत और विस्मयजनक उत्तर दिया है। वे कहते हैं, तन्मात्राओं का कारण 'अहंकार' या 'अहंतत्त्व' अथवा 'अहंज्ञान' है। यही इन सब सूक्ष्म भूत समूह का और इन्द्रियगण का कारण है। इन्द्रियाँ कौन हैं? यह आँख विद्यमान है किन्तु आँख देखती नहीं है। यदि आँख देखती होती, तो मनुष्य की जब मृत्यु होती है, तब आँख तो अविकृत रहती है, तो फिर वह उस समय भी देख पाती। किसी स्थान पर कुछ परिवर्तन हुआ है। कोई 'कुछ' मनुष्य के भीतर से चला गया है, और वही कुछ, जो प्रकृत रूप में देखता है, आँख जिसका यन्त्र स्वरूप मात्र है, वही यथार्थ इन्द्रिय है। इसी प्रकार यह नाक भी एक यन्त्रमात्र है, उसके सहित सम्बन्धयुक्त एक इन्द्रिय है। आधुनिक शरीरविधानशास्त्र से आपको ज्ञान हो जायेगा, वह क्या है। वह मस्तिष्क के भीतर का एक स्नायु-केन्द्र मात्र है। आँख, कान आदि केवल बाहर के यन्त्र मात्र हैं। अतएव यह स्नायु-केन्द्र अथवा इन्द्रियगण ही अनुभूति के यथार्थ स्थान हैं।

नाक के लिए एक, आँख के लिए एक, इसी प्रकार प्रत्येक के लिए एक एक पृथक् स्नायु-केन्द्र अथवा इन्द्रिय होने का प्रयोजन क्या है ? एक से ही कार्य सिद्ध क्यों नहीं होता ? यह आगे स्पष्ट रूप से समझाया जा रहा है । हम बात कर रहे हैं, आप हमारी बात सुन रहे हैं; आप लोग यह देख नहीं पा रहे कि आप के चहुँ ओर क्या हो रहा है, क्योंकि, मन केवल श्रवणेन्द्रिय में ही संयुक्त हुआ है, उसने चक्षुरिन्द्रिय से आपको पृथक् कर दिया है । यदि केवल एक स्नायु-केन्द्र होता अर्थात् एक ही इन्द्रिय होती, तो मन को एक समय में ही देखना, सुनना और सूँघना होता और उसके पक्ष में एक समय में ही ये तीनों काम न करना असम्भव होता । अतएव प्रत्येक के लिये पृथक् पृथक् स्नायु-केन्द्र आवश्यक है । आधुनिक शरीरविधानशास्त्र भी इस सम्बन्ध में अपनी साक्षी देते हैं । अवश्य हमारे पक्ष में एक समय में ही देखना और सुनना सम्भव है, किन्तु उसका कारण है—मन दोनों केन्द्रों में आंशिक भाव से संयुक्त होता है । तब यंत्र कौन से हुए ? हम देखते हैं, वे बाहर की वस्तुएँ हैं और स्थूल भूत से निर्मित हैं—ये ही हमारी आँख, कान, नाक आदि । और ये स्नायुकेन्द्र-समूह किससे बने हैं ? वे सूक्ष्मतर भूत से निर्मित हैं और अनुभूति के केन्द्र-स्वरूप होने के कारण, वे भीतर की वस्तुएँ हैं । जिस प्रकार प्राण को विभिन्न स्थूल शक्तियों में परिणत करने के लिए यह देह स्थूलभूत से गठित हुई है, उसी प्रकार इस शरीर के पश्चात् जो स्नायु-केन्द्र-समूह विद्यमान हैं, वे भी प्राण को सूक्ष्म अनुभूति की शक्ति में

धर्मविज्ञान

परिणत करने के लिए सूक्ष्मतर उपादान से निर्मित हैं। इन सब इन्द्रियों और अन्तःकरण की समष्टि को एकत्र रूप में लिङ्ग अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

प्रकृत पक्ष में, इस सूक्ष्म शरीर का एक आकार है, क्योंकि भौतिक जो कुछ है, उसका एक आकार अवश्य ही रहेगा। इन्द्रिय-गण के पश्चात् मन अर्थात् वृत्ति से युक्त चित्त है, उसे चित्त की स्पन्दनशील अथवा अस्थिर अवस्था कहा जा सकता है। यदि एक स्थिर जलाशय में एक पत्थर फेंका जाय, तो पहले उसमें स्पन्दन अथवा कम्पन उपस्थित होगा, उसके पश्चात् उससे बाधा अथवा प्रतिक्रिया उपस्थित होगी। एक मुहूर्त के लिए उसका पानी स्पन्दित होगा, फिर वह उस पत्थर पर प्रतिक्रिया करेगा। इसी प्रकार चित्त पर ज्यों ही किसी बाह्य विषय का आघात आता है, त्यों ही वह कुछ स्पन्दित होता है। चित्त की इसी अवस्था को मन कहते हैं। उसके पश्चात् उससे प्रतिक्रिया होती है, उसका नाम बुद्धि है। इस बुद्धि के पश्चात् और एक वस्तु है, वह मन की सब क्रियाओं के सहित ही विद्यमान रहता है, उसे अहङ्कार कहते हैं—इस अहंकार का अर्थ है अहं ज्ञान, जिससे सर्वदा 'मैं हूँ' यह ज्ञान होता है। उसके पश्चात् महत् अथवा बुद्धितत्व है—वह प्राकृतिक सब वस्तुओं में से श्रेष्ठ है। इसके पश्चात् हैं पुरुष—ये ही मनुष्य के यथार्थ स्वरूप हैं, शुद्ध, पूर्ण, ये ही एकमात्र द्रष्टा हैं और इनके लिए ही यह सब परिणाम है। पुरुष यह सब परिणाम की परम्परा

देख रहे हैं। वे स्वतः कभी अशुद्ध नहीं हैं, किन्तु अभ्यास^१ अथवा प्रतिबिम्ब के द्वारा वे वैसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे स्फटिक^२ के एक खण्ड के ऊपर एक लाल फूल रखने पर स्फटिक लाल दिखाई पड़ेगा, फिर नीला फूल रखने पर नीला दिखाई पड़ेगा। वास्तव में किन्तु स्फटिक का कोई वर्ण नहीं है। पुरुष अथवा आत्मा अनेक हैं, प्रत्येक शुद्ध और पूर्ण हैं। और ये स्थूल, सूक्ष्म नाना प्रकार के विभक्त भूत उन पर प्रतिबिम्बित होकर उन्हें नाना वर्ण का दिखाते हैं। प्रकृति क्यों यह सब करती है? प्रकृति का यह सब परिणाम पुरुष अथवा आत्मा के भोग और अपवर्ग^३ के लिए है—जिससे पुरुष अपना मुक्त स्वभाव जान सकें। मनुष्य के समक्ष यह जगत्-प्रपञ्च-रूप सुबृहत् ग्रंथ विस्तारित है, जिससे मनुष्य इस ग्रंथ का पाठ करके परिणाम में सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान पुरुष के रूप में जगत् के बाहर आ सकें। हमें यहाँ अवश्य ही कहना होगा कि आप लोग जिस प्रकार सगुण अथवा व्यक्तिभाव से आपन्न ईश्वर के प्रति विश्वास करते हैं, हमारे अनेक मनस्तत्त्वविद्गण उस प्रकार उनके प्रति विश्वास नहीं करते।

सब मनस्तत्त्वविद्गण के पिता स्वरूप कपिल सृष्टिकर्ता ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि सगुण

१—आरोप; एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान (जैसे रस्सी देख कर भ्रम के कारण उसे साँप समझ लेना ।)

२—शुभ, स्वच्छ पत्थर ।

३—मुक्ति ।

धर्मविज्ञान

ईश्वर को स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है; जो कुछ सुन्दर है, प्रकृति ही वह सब करने में समर्थ है। उन्होंने तथाकथित 'कौशलवाद' (Design Theory) का खण्डन किया है। और इस मतवाद के समान लड़कपन का मत जगत में और कोई भी प्रचारित नहीं हुआ। तो भी वे एक विशेष प्रकार के ईश्वर को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—हम सब ही मुक्त होने के लिए यत्न कर रहे हैं, और इस प्रकार का यत्न करते करते जब मानवात्मा मुक्त होती है, तब वह मानो कुछ दिनों के लिए प्रकृति में लीन हो कर रह सकती है। आगामी कल्प के प्रारम्भ में वही एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान पुरुष के रूप में आविर्भूत हो कर उस कल्प का शासनकर्ता हो सकती है। इस अर्थ से उसे ईश्वर कहा जा सकता है। इसी प्रकार आप, हम और अत्यन्त साधारण व्यक्ति तक विभिन्न कल्प में ईश्वर हो सकते हैं। कपिल कहते हैं, इस प्रकार के जन्य-ईश्वर हो सकते हैं, किन्तु नित्य-ईश्वर अर्थात् नित्य, सर्वशक्तिमान, जगत के शासनकर्ता कदापि नहीं हो सकते। इस प्रकार ईश्वर स्वीकार करने पर एक आपत्ति घटित होती है—ईश्वर को या तो बद्ध अथवा मुक्त दोनों में से एक को स्वीकार करना होगा। यदि ईश्वर मुक्त हों तो वे सृष्टि नहीं करेंगे; क्योंकि उनके सृष्टि करने का कोई प्रयोजन नहीं है। और यदि वे बद्ध हों, तो भी उनका सृष्टि-कर्तृत्व असम्भव होगा; क्योंकि बद्ध होने के कारण उनकी शक्ति का अभाव है, इसलिए उनमें सृष्टि-कर्तृत्व की क्षमता नहीं रहेगी। इसलिए दोनों पक्ष से ही सिद्ध हुआ, नित्य, सर्वशक्तिमान

और सर्वज्ञ ईश्वर रह नहीं सकते। इसी कारण कपिल कहते हैं, हमारे शास्त्र में—वेद में—जहाँ कहीं भी ईश्वर शब्द का प्रयोग है, उसमें, जो सब आत्माएँ पूर्णता और मुक्ति को प्राप्त हुई हैं, उन सब को व्यक्त किया गया है। सांख्यदर्शन सब आत्माओं के एकत्व के प्रति विश्वासी नहीं है। वेदान्त के मत के अनुसार सब जीवात्माएँ ब्रह्मनामधेय एक विश्वात्मा में अभिन्न हैं, किन्तु सांख्यदर्शन के प्रतिष्ठाता कपिल द्वैतवादी थे। अवश्य उन्होंने जगत का विश्लेषण जहाँ तक किया है, वह अत्यन्त अद्भुत है। वे हिन्दू-परिणामवादियों के जनकस्वरूप हैं, और परवर्ती सब दार्शनिक शास्त्र उनकी ही चिन्ता-प्रणाली के परिणाम मात्र हैं।

सांख्यदर्शन के मतानुसार सब आत्माएँ ही अपनी स्वाधीनता अथवा मुक्ति एवं सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञत्वरूप स्वाभाविक अधिकार पुनः प्राप्त करेंगी। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है, अब फिर यह बन्धन कहाँ से आया? सांख्य कहता है, यह अनादि है। किन्तु उससे यह आपत्ति उपस्थित होती है कि, यदि यह बन्धन अनादि हो, तो वह अनन्त भी होगा, और तो फिर हम कभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। कपिल इसके उत्तर में बोलने हैं, यहाँ इस 'अनादि' से नित्य अनादि नहीं समझना होगा। प्रकृति अनादि और अनन्त है, परन्तु आत्मा व पुरुष जिस अर्थ में अनादि अनन्त हैं, उस अर्थ में नहीं; क्योंकि प्रकृति में व्यक्तित्व नहीं है। जिस प्रकार हमारे सम्मुख से एक नदी बहती जा रही है, प्रत्येक मुहूर्त

धर्मविज्ञान

उसमें नई नई जलराशि आ रही है और इस जलराशि का नाम ही नदी है—किन्तु नदी कोई एक वस्तु नहीं हुई। इसी प्रकार प्रकृति के अन्तर्गत जो कुछ है, उसका सर्वदा परिवर्तन हो रहा है, किन्तु आत्मा का कभी परिवर्तन नहीं होता। अतएव प्रकृति जब सदा ही परिणाम प्राप्त हो रही है, तब आत्मा के पक्ष में प्रकृति के बन्धन से मुक्त होना सम्भव है। सांख्यवादियों का एक मत अनन्य-साधारण है। उनके मतानुसार एक मनुष्य अथवा कोई भी एक प्राणी जिस नियम से गठित है, समग्र जगत-ब्रह्माण्ड भी ठीक उसी नियम से विरचित है। इसलिए हमारा जैसे एक मन है, उसी प्रकार एक विश्व-मन भी है। जब इस बृहद्ब्रह्माण्ड का क्रमविकास होता है, तब पहले महत् अथवा बुद्धित्व, फिर अहंकार, फिर तन्मात्रा, इन्द्रिय और अन्त में स्थूल भूत की उत्पत्ति होती है। कपिल का मत है कि समग्र ब्रह्माण्ड ही एक शरीरस्वरूप है। जो कुछ हम देखते हैं, वे सब स्थूल शरीर हैं, उन सब के पश्चात् सूक्ष्म शरीरसमूह और उनके पश्चात् समष्टि अहंत्व, उसके भी पश्चात् समष्टि बुद्धि है। किन्तु यह सब ही प्रकृति के अन्तर्गत है, सब ही प्रकृति का विकास है, इनमें से कुछ भी उसके बाहर नहीं है। हममें से सभी उसी विश्वचैतन्य के अंशस्वरूप हैं। समष्टि बुद्धित्व विद्यमान है, उसमें से जो हमारे प्रयोजन का है, हम ग्रहण कर रहे हैं; इसी प्रकार जगत के भीतर सभी मनस्तत्त्व विद्यमान है, उससे भी हम चिरकाल से प्रयोजन के अनुसार ले रहे हैं। किन्तु देह का बीज माता-पिता से प्राप्त होना चाहिये।

इससे वंश की अनुक्रमिकता (Heredity) और पुनर्जन्मवाद दोनों तत्व ही स्वीकृत हो जाते हैं। आत्मा को देह का निर्माण करने के लिए उपादान देना होता है, किन्तु वह उपादान वंश के आनुक्रमिक सञ्चार के द्वारा माता-पिता से प्राप्त किया जाता है।

हम अब इस सिद्धान्त की आलोचना तक आ पहुँचे हैं कि, सांख्यमत के अनुयायी सृष्टिवाद में सृष्टि अथवा क्रमविकास और प्रलय अथवा क्रमसङ्कोच—ये दोनों ही स्वीकृत हुए हैं। सब ही उसी अव्यक्त प्रकृति के क्रमविकास से उत्पन्न हैं, और ये सब ही क्रम-संकुचित हो कर अव्यक्त आकार धारण करते हैं। सांख्य मत के अनुसार ऐसी किसी जड़ अथवा भौतिक वस्तु का अस्तित्व सम्भव नहीं है, ज्ञान का कोई अंशविशेष भी जिसका उपादान न हो। ज्ञान ही वह उपादान है, जिससे यह सब प्रपञ्च निर्मित हुआ है। आगे की वक्तृता में इसकी विशद व्याख्या की जायेगी। तो भी यहाँ हम यह दिखायेंगे कि किस प्रकार यह प्रमाणित किया जा सकता है। मान लीजिये, हमारे सम्मुख एक टेबुल है। उस टेबुल का स्वरूप क्या है, हम यह नहीं जानते; वह केवल हमारे ऊपर एक प्रकार का संस्कार मात्र उत्पन्न कर रहा है। वह पहले आँखों के सामने आता है, उसके पश्चात् दर्शनेन्द्रिय में गमन करता है, उसके पश्चात् मन के निकट आता है। तब मन पुनः उस पर प्रतिक्रिया करता है, इस प्रतिक्रिया को ही हम टेबुल की संज्ञा देते हैं। यह घटना ठीक एक सरोवर में पत्थर का एक खण्ड फेंकने के समान है।

धर्मविज्ञान

वह सरोवर पत्थर के खण्ड की ओर एक तरङ्ग निक्षेप करता है; और उस तरङ्ग से ही हमारा परिचय होता है। मन के तरङ्ग-समूह—जो बाहर की ओर आते रहते हैं, उन्हें ही हम जानते हैं। इस प्रकार ही यह जो दीवाल खड़ी है, उसकी आकृति हमारे मन में है; बाहर यथार्थ में क्या है, यह कोई नहीं जानता। जब हम उसे जानने का यत्न करते हैं, तब हम उसे जो उपादान प्रदान करते हैं, उसे तदनु रूप बनना पड़ता है। हमने अपने निज के मन के द्वारा अपनी आँखों की उपादानभूत वस्तु दी है, और बाहर जो है, वह केवल उद्दीपक अथवा उत्तेजक कारणमात्र है। वही उत्तेजक कारण आने पर हम अपने मन को उसकी दिशा में प्रक्षेप करते हैं और वह हमारे द्रष्टव्य वस्तु का आकार धारण कर लेता है। अब प्रश्न यह है कि हम सब ही एक वस्तु किस प्रकार देखते हैं? इसका कारण यह है कि हम सब के भीतर इसी विश्व-मन का एक एक अंश है। जिनके मन है वे ही यह वस्तु देखेंगे; जिनके नहीं है, वे वह सब नहीं देखेंगे। इससे ही प्रमाणित हुआ, जितने दिनों से जगत है, उतने दिनों से मन का अभाव—उस एक विश्व-मन का अभाव—कभी नहीं हुआ। प्रत्येक मानव, प्रत्येक प्राणी उसी विश्व-मन से ही निर्मित हो रहा है, क्योंकि, वह सदा ही वर्तमान है और उन सब के निर्माण के लिए उपादान प्रदान कर रहा है।

दूसरा अध्याय

प्रकृति और पुरुष

हम जिन तत्वों को लेकर विचार कर रहे थे, अब उनमें से प्रत्येक को लेकर विशेष आलोचना में प्रवृत्त होंगे। हम सब को स्मरण होगा, हमने प्रकृति से आरम्भ किया था। सांख्य मत के अवलम्बनकर्ताओं ने उसे अव्यक्त अथवा अविभक्त कहा है और उसके अन्तर्गत सब उपादानों की साम्यावस्था के रूप में उसका लक्षण किया है। इससे स्वभावतः ही यह ज्ञात होता है कि, सम्पूर्ण साम्यावस्था अथवा सामञ्जस्य में किसी प्रकार की गति नहीं रह सकती। हम जो कुछ देखते, सुनते अथवा अनुभव करते हैं, वह सब ही जड़ भूत और गति का समवाय मात्र है। इस प्रपञ्च-विकास के पहले आदिम अवस्था में जब किसी प्रकार की गति नहीं थी, जब सम्पूर्ण अविभक्त थी, तब यह प्रकृति अविनाशी थी, कारण, सीमाबद्ध होने पर ही उसका विश्लेषण अथवा वियोजन हो सकता है। और सांख्य मत के अनुसार परमाणु जगत की आदिम अवस्था नहीं है। यह जगत परमाणु-पुञ्ज से उत्पन्न नहीं हुआ, वे दूसरी अथवा तीसरी अवस्था हो सकते हैं। आदि भूत ही परमाणु-रूप में परिणत होता है, और वह फिर उसकी अपेक्षा स्थूलतर पदार्थ में परिणत होता है। आज कल का वैज्ञानिक

धर्मविज्ञान

अनुसन्धान जितना आगे बढ़ा है, उससे प्रतीत होता है कि वह इस मत का पोषण करता है। उदाहरणस्वरूप—ईश्वर-सम्बन्धीय आधुनिक मत की बात लीजिये। यदि आप कहेंगे कि ईश्वर भी परमाणु-पुञ्ज के समवाय से उत्पन्न है, तो उससे किसी प्रकार समस्या की मीमांसा नहीं होगी। और भी अधिक स्पष्ट करके इस विषय को समझाया जाय। वायु अवश्य परमाणु-पुञ्ज से गठित है और हम जानते हैं, ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, वह सब में ओतप्रोत भाव से विद्यमान और सर्वव्यापी है। वायु और अन्यान्य सब वस्तुओं के परमाणु भी मानो इसी ईश्वर में तैर रहे हैं। फिर यदि ईश्वर की रचना परमाणु-समूह के संयोग से हो, तो ईश्वर के परमाणुओं में भी किञ्चित् अवकाश रहेगा। यह अवकाश किस वस्तु के द्वारा पूर्ण है? और जो कुछ इस अवकाश में व्याप्त रहेगा, उसके परमाणु-समूह में भी इसी प्रकार का अवकाश रहेगा। यदि आप कहिये, इस अवकाश के भीतर और भी सूक्ष्मतर ईश्वर वर्तमान है, तो फिर उन ईश्वर-परमाणुओं में भी और अवकाश स्वीकार करना होगा। इस प्रकार सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम ईश्वर की कल्पना करते करते अन्तिम सिद्धान्त कुछ भी प्राप्त नहीं होगा—इसे अनवस्था-दोष कहते हैं। अतएव परमाणुवाद चरम सिद्धान्त हो नहीं सकता। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति सर्वव्यापी है, वह एक सर्वव्यापी जड़राशि स्वरूप है, उसमें—इस जगत में जो कुछ है—सब का कारण विद्यमान है। कारण शब्द से किसका बोध होता है? कारण से व्यक्त अवस्था की सूक्ष्मतर अवस्था का बोध होता है—जो व्यक्त होता है, उसकी ही अव्यक्त

अवस्था का । विनाश शब्द से किसका बोध होता है ? विनाश का अर्थ कारण में लय है अर्थात् कारणावस्था-प्राप्ति है, जिन सब उपादानों से कोई वस्तु निर्मित हुई थी, वे अपनी आदिम अवस्था को चले जाते हैं । विनाश शब्द से इस अर्थ के अतिरिक्त सम्पूर्ण अभाव का अर्थ असम्भव है, यह स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है । कपिल ने अनेक युग पहले विनाश का जो 'कारण में लय' अर्थ किया था, वास्तव में उससे केवल उसी का बोध होता है, यह आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रमाणित किया जा सकता है । 'सूक्ष्मतर अवस्था में गमन' के अतिरिक्त विनाश का और कोई अर्थ नहीं है । आप लोग जानते हैं, वैज्ञानिक परीक्षागार में किस प्रकार यह प्रमाणित किया जा सकता है कि भूत अविनश्वर है । आप लोगों में से जिन्होंने रसायन-विद्या का अध्ययन किया है, वे अवश्य ही जानते हैं कि, यदि एक काँच की नली के भीतर एक बत्ती और एक कॉस्टिक पेन्सिल (Caustic Pencil) रखी जाय और बत्ती को पूरा जला दिया जाय, तो उस पेन्सिल को बाहर निकाल कर तौलने पर दिखाई पड़ेगा कि, उस पेन्सिल की तौल इस समय, उसके पहले की तौल के सहित बत्ती के तौल को जोड़ने से जो योगफल होता है, ठीक उतनी हो गई है । वह बत्ती ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर उस पेन्सिल में प्रविष्ट हो गई है । अतएव आजकल हमारी ज्ञानोन्नति की अवस्था में यदि कोई कहे कि, किसी वस्तु का सम्पूर्ण अभाव हो जाता है, तो वह स्वतः उपहास के योग्य हो जायेगा । केवल अशिक्षित व्यक्ति ही इस प्रकार की बात कहेंगे, और आश्चर्य

धर्मविज्ञान

का विषय है—उन प्राचीन दार्शनिकगण का उपदेश आधुनिक ज्ञान से मिलता है। प्राचीन काल के दार्शनिकगण मन को भित्ति-स्वरूप मान कर अपने अनुसन्धान में अग्रसर हुए थे, उन्होंने इस ब्रह्माण्ड के मानसिक भाग का विश्लेषण किया था और उसके द्वारा अनेक सिद्धान्तों को प्राप्त किया था तथा आधुनिक विज्ञान उसके भौतिक भाग का विश्लेषण करके ठीक उन्हीं सिद्धान्तों में उपनीत हुआ है। दोनों प्रकार के विश्लेषण एक ही सत्य में उपनीत हुए हैं।

आपको अवश्य स्मरण है कि इस जगत में प्रकृति के प्रथम विकास को सांख्यवादीगण महत् कहते हैं। हम उसे समष्टि बुद्धि कह सकते हैं, उसका ठीक शब्दार्थ है—सर्व श्रेष्ठ तत्त्व। प्रकृति का प्रथम विकास यही बुद्धि है। इसे अहंज्ञान नहीं कहा जा सकता, कहने पर भूल होगी। अहंज्ञान इस बुद्धितत्त्व का अंशविशेष मात्र है, परन्तु बुद्धितत्त्व सार्वजनीन तत्त्व है। अहंज्ञान, अव्यक्त ज्ञान और ज्ञानातीत अवस्था—ये सब ही उसके अन्तर्गत हैं। उदाहरण-स्वरूप, प्रकृति में कितने ही परिवर्तन आप लोगों की आँखों के समक्ष ही घट रहे हैं, आप लोग वह सब देख रहे हैं और समझ रहे हैं, किन्तु और कितने ही परिवर्तन हैं, वे सब इतने सूक्ष्म हैं कि किसी भी मानवीय बोधशक्ति के द्वारा बोधगम्य नहीं हैं। ये दोनों प्रकार के परिवर्तन एक ही कारण के द्वारा हो रहे हैं, वह एक ही महत् इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को ही साधित कर रहा है। और कुछ परिवर्तन हैं, जो हमारे मन और विचार-शक्ति

प्रकृति और पुरुष

से अतीत हैं। ये सब परिवर्तन ही इस महत् में विद्यमान हैं। व्यष्टि को लेकर जब हम आलोचना करने को प्रवृत्त होंगे, तब यह बात आप और अधिक अच्छी तरह समझियेगा। इसी महत् से समष्टि अहंतत्व की उत्पत्ति हुई है और ये दोनों ही भौतिक हैं। भूत और मन में परिमाणगत भेद के अतिरिक्त और किसी प्रकार का भेद नहीं है—एक ही वस्तु की सूक्ष्म और स्थूल अवस्था, एक दूसरी में परिणत हो रही है। इसके सहित आधुनिक शरीरविधानशास्त्र (Physiology) के सिद्धान्त का ऐक्य है और मस्तिष्क से पृथक् एक मन है, यह, और इस प्रकार के सब असम्भव विषयों में विश्वास करने पर जिस प्रकार विज्ञानशास्त्र के सहित विरोध और द्वन्द्व उपस्थित होता है, उससे इस विश्वास के कारण इस प्रकार के विरोध से रक्षा हो जाती है। महत् नामक यह पदार्थ अहंतत्व नामक जड़ पदार्थ की सूक्ष्म अवस्था-विशेष में परिणत होता है तथा उस अहंतत्व का और दो प्रकार का परिणाम होता है, उनमें से एक प्रकार का परिणाम इन्द्रिय है। इन्द्रिय दो प्रकार की है, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। किन्तु इन्द्रिय के नाम से इन दिखाई पड़ने वाले आँख, कान आदि का बोध नहीं होता, इन्द्रिय इन सब की अपेक्षा सूक्ष्मतर है—जिसे आप मस्तिष्क-केन्द्र अथवा स्नायु-केन्द्र कहते हैं। यह अहंतत्व परिणाम को प्राप्त होता है और इसी अहंतत्वरूप उपादान से ये केन्द्र तथा सब स्नायु उत्पन्न होते हैं। अहंतत्वरूप इस एक ही उपादान से और एक प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ की उत्पत्ति होती है—वह तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म भौतिक परमाणु है। जो आपकी

धर्मविज्ञान

नाक के संस्पर्श में आ कर आपके घ्राण^१ को समर्थ करता है, वही तन्मात्रा का एक दृष्टान्त है। आप इन सूक्ष्म तन्मात्राओं को प्रत्यक्ष नहीं कर पाते, ये तन्मात्राएँ हैं, आप केवल इस बात से परिचित हो सकते हैं। अहंतत्त्व से इन तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है, और इन तन्मात्राओं अथवा सूक्ष्म भूत से स्थूल भूत की अर्थात् वायु, जल, पृथिवी और अन्यान्य जो कुछ हम देख पाते हैं अथवा अनुभव करते हैं, उनकी उत्पत्ति होती है। हम इस विषय की छाप आपके मन में दृढ़ रूप से लगा देने का यत्न करें। यह धारणा करना बड़ा कठिन है, क्योंकि, पाश्चात्य देश में मन और भूत के सम्बन्ध में अद्भुत अद्भुत धारणायें हैं। इन सब संस्कारों को मस्तिष्क से दूर करना अत्यन्त कठिन है। बाल्य काल में पाश्चात्य दर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के कारण हमें भी इस तत्त्व को समझने में भयानक कष्ट सहन करना पड़ा था।

ये सब ही जगत के अन्तर्गत हैं। सोच कर देखिये, प्रथम अवस्था में एक सर्वव्यापी, अखण्ड अविभक्त जड़राशि रहती है। जैसे दूध परिणाम को प्राप्त हो कर दही बनता है, उसी प्रकार वह महत् नामक अन्य एक पदार्थ में परिणत होती है—यह महत् एक अवस्था^२ में बुद्धितत्त्व के रूप में अवस्थान करता है, अन्य अवस्था में

१—गन्ध-ग्रहण, सूँघना

२—भाषा की रचना-पद्धति के कारण पाठकों के मन में आ सकता है कि बुद्धितत्त्व महत् की अवस्थाविशेष है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, जिसे महत् कहा जाता है, वही बुद्धितत्त्व है।

प्रकृति और पुरुष

वह अहंतत्व के रूप में परिणत होता है। वह वही एक ही वस्तु है, केवल अपेक्षाकृत अथवा अधिक स्थूलतर आकार में परिणत होकर उसने अहंतत्व नाम धारण किया है। इसी प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड मानो स्तर स्तर से विरचित है। प्रथमतः अव्यक्त प्रकृति, वह सर्वव्यापी बुद्धित्व में अथवा महत् में परिणत होती है, वह फिर सर्वव्यापी अहंतत्व अथवा अहंकार में और वह परिणाम प्राप्त करके सर्वव्यापी इन्द्रियग्राह्य भूत^१ में परिणत होता है। वही भूत-समष्टि इन्द्रिय अथवा केन्द्रसमूह में और समष्टि सूक्ष्म 'परमाणु-समष्टि' में परिणत होती है। फिर इन सब के मिलने पर इस स्थूल जगत-प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। सांख्य मत के अनुसार यही सृष्टि का क्रम है और बृहत् ब्रह्माण्ड में जो है, वह समष्टि अथवा क्षुद्र ब्रह्माण्ड (Microcosm) में भी अवश्य रहेगा।

व्यष्टिस्वरूप एक मनुष्य की बात लीजिये। प्रथमतः उसके भीतर वही साम्यावस्थापन प्रकृति का अंश विद्यमान है। वही जड़स्वरूपा

१—पहले सांख्य-मत के अनुसार सृष्टि के जिस क्रम का वर्णन हुआ है उसके सहित इस स्थान में आपाततः स्वामीजी का किञ्चित् विरोध बोध हो सकता है। पहले व्यक्त किया जा चुका है, अहंतत्व से इन्द्रिय और तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। अब फिर उनमें इन्द्रियग्राह्य भूत की कथा आ जाती है। यह क्या कोई नया तत्त्व है? हमें प्रतीत होता है कि, अहंतत्व के एक अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ होने के कारण उसमें से इन्द्रिय और तन्मात्रा की उत्पत्ति सहज भाव से समझाने के लिए स्वामीजी ने इस प्रकार के इन्द्रियग्राह्य भूत की कल्पना की है।

धर्मविज्ञान

प्रकृति उसके भीतर महत् रूप में परिणत हुई है, उसी महत् अर्थात् सर्वव्यापी बुद्धितत्व का एक अंश उसके भीतर विद्यमान है। और उसी सर्वव्यापी बुद्धितत्व का क्षुद्र अंश उसके भीतर अहंतत्व में अथवा अहंकार में परिणत हुआ है—वह उसी सर्वव्यापी अहंतत्व का ही क्षुद्र अंश मात्र है। यह अहंकार फिर इन्द्रिय और तन्मात्रा में परिणत हुआ है। तन्मात्राओं ने फिर परस्पर मिल कर उसके क्षुद्र ब्रह्माण्ड—देह—की रचना की है। यह विषय हम सुस्पष्ट रूप से आपको समझाना चाहते हैं, क्योंकि, वेदान्त समझने के लिए यह प्रथम सोपान-स्वरूप है, और यह जानना आपके लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि, यही समग्र जगत के विभिन्न प्रकार के दर्शनशास्त्र की भित्तिस्वरूप है। जगत में ऐसा कोई दर्शनशास्त्र नहीं है, जो इस सांख्यदर्शन के प्रतिष्ठाता कपिल के निकट ऋणी न हो। पिथागोरस ने भारत में आकर इस दर्शन का अभ्ययन किया था और ग्रीकवासियों के निकट वे इसके अनेक तत्व ले गये थे। तत्पश्चात् वह अलेक्जेंद्रिया^१ के दार्शनिक सम्प्रदाय के भित्तिस्वरूप

१—Alexandrian School—निओ प्लेटनिक सम्प्रदाय को ही इस अलेक्जेंद्रिय सम्प्रदाय-समूह में श्रेष्ठतम माना जा सकता है। क्रिस्तान धर्म की प्रतिष्ठा के कुछ दिनों पश्चात् ही इसका आविर्भाव हुआ और अनेक दिनों तक क्रिस्तान धर्म के सहित इसकी प्रतिद्वन्द्विता अथवा प्रतियोगिता चली। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता प्लोटिनस के मतानुसार युक्ति-विचार के द्वारा ब्रह्मज्ञान-लाभ असम्भव है, वह समाधि-लभ्य है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में तीन बार समाधि प्राप्त की थी।

प्रतिष्ठित हुआ तथा और भी परवर्तीकाल में वह नास्टिक-दर्शन^१ (Gnostic Philosophy) की भित्ति बना । इस प्रकार वह दो भागों में विभक्त हुआ । उसका एक भाग यूरोप और अलेक्जेंद्रिया में गया, और दूसरा भाग भारत में ही रहा तथा सब प्रकार के हिन्दू-दर्शन का भित्तिस्वरूप बन गया, क्योंकि व्यास का वेदान्त-दर्शन इसकी ही परिणतिस्वरूप है । यह कापिल दर्शन ही जगत में युक्तिविचार के द्वारा जगत्तत्त्व की व्याख्या का सर्वप्रथम यत्न है । उसके प्रति उचित सम्मान-प्रदर्शन करना जगत के सब दार्शनिक-गण के पक्ष में उचित है । हम आपके मन में यह बात विशेष रूप से स्थिर कर देना चाहते हैं कि, कपिल दर्शनशास्त्र के जनक हैं; अतः हम उनके उपदेश सुनने को बाध्य हैं और वे जो जो कह गये हैं, सब के प्रति श्रद्धा व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है । यहाँ तक कि वेद में भी इस अद्भुत व्यक्ति का—इस सर्वप्राचीन दार्शनिक का—उल्लेख देखने को मिलता है । उनके अनुभूतिसमूह कितने अपूर्व

१—Gnostic (नास्टिक)—क्रिस्तान धर्म की प्रथम अवस्था में ही इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी, ये लोग क्रिस्तान धर्म का यथार्थ मर्म जानने का अधिकार व्यक्त करते थे । यह मत प्राच्य और ग्रीकदर्शन तथा क्रिस्तान-धर्म का मिश्रणस्वरूप है; इनका प्रधान मत है कि, मन-बुद्धि के अगोचर परमेश्वर से जगत क्रम क्रम से विकसित हुआ है । एक एक विकास को इयन (Aeon) कहा जाता है । इनके मतानुसार ईश्वर ने ' कुछ नहीं से जगत सृजन ' नहीं किया है । हाइल (Hyle) नाम के आदिमूत से उन्होंने जगत सृष्टि की है ।

धर्मविज्ञान

हैं ! यदि योगिगण की अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष शक्ति का कोई प्रमाण आवश्यक हो तो, कहना होगा कि इस प्रकार के ही व्यक्ति उसके प्रमाण हैं । उन सब ने किस प्रकार इन सब तत्वों को उपलब्ध किया ? उनके निकट अणुवीक्षण अथवा दूरवीक्षण यन्त्र तो था नहीं । उनकी अनुभव शक्ति कितनी सूक्ष्म थी, उनके विश्लेषण कैसे निर्दोष और कितने अद्भुत थे !

जो भी हो अब पूर्वप्रसङ्ग को फिर से आरम्भ किया जाय । हम क्षुद्र ब्रह्माण्ड मनुष्य के तत्व की आलोचना कर रहे थे । हमने देखा है, बृहत् ब्रह्माण्ड जिन नियमों से निर्मित है, क्षुद्र ब्रह्माण्ड की रचना भी उसी प्रकार हुई है । पहले अविभक्त अथवा सम्पूर्ण साम्यावस्थापन्न प्रकृति थी । तत्पश्चात् उसमें विषमता प्राप्त होने पर कार्य आरम्भ हुआ, और इस कार्य के फलतः जो प्रथम परिणाम हुआ, वह महत् अर्थात् बुद्धि है । अब आप देख रहे हैं, मनुष्य में जो यह बुद्धि विद्यमान है, वह सर्वव्यापी बुद्धितत्व अथवा महत् का क्षुद्र अंश-स्वरूप है । उससे अहंज्ञान का आविर्भाव हुआ, उससे अनुभव-आत्मक और गति-आत्मक स्नायुसकल एवं सूक्ष्म परमाणु अथवा तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई । इस तन्मात्रा से ही स्थूल देह विरचित होती है । हम यहाँ कहना चाहते हैं, शोपेन-हॉर के दर्शन और वेदान्त में एक प्रभेद है । शोपेनहॉर कहते हैं, वासना अथवा इच्छा इन सब का कारण है । हमारे इस प्रकार व्यक्तभावापन्न होने का कारण प्राण-धारण की इच्छा है, किन्तु

प्रकृति और पुरुष

अद्वैतवादीगण इसे अस्वीकार करते हैं। वे लोग कहते हैं, महत्त्व ही इसका कारण है। ऐसी एक भी इच्छा नहीं हो सकती, जो प्रतिक्रियास्वरूप न हो। इच्छा के अतीत अनेक वस्तुएँ विद्यमान हैं। वह अहं के द्वारा गठित एक वस्तु है। अहं उसकी अपेक्षा भी उच्चतर वस्तु है अर्थात् महत्त्व से उत्पन्न है और वह फिर अव्यक्त प्रकृति का विकारस्वरूप है।

मनुष्य में यह जो महत् अथवा बुद्धित्व विद्यमान है, उसका स्वरूप उत्तम रूप से समझना विशेष आवश्यक है। यह महत्त्व हम जिसे अहं कहते हैं, उसमें परिणत होता है और यह महत्त्व ही उन सब परिवर्तनों का कारण है जिनके फलस्वरूप यह शरीर निर्मित हुआ है। महत्त्व के भीतर ज्ञान की निम्न भूमि, साधारण ज्ञान की अवस्था और ज्ञान से अतीत अवस्था ये सब ही विद्यमान हैं। ये तीन अवस्थाएँ क्या हैं? ज्ञान की निम्न भूमि हम पशुओं में देखते हैं और उसे सहजात ज्ञान (Instinct) कहते हैं। यह प्रायः अभ्रान्त है, तथापि उसके द्वारा ज्ञातव्य विषय बहुत ही कम हैं। सहजात ज्ञान में प्रायः कभी भूल नहीं होती। एक पशु इस सहजात ज्ञान के प्रभाव से कौन सी घास खाने योग्य है, कौन सी घास विषाक्त है, यह सुविधापूर्वक समझ सकता है, किन्तु यह सहजात ज्ञान केवल दो एक विषयों में सीमाबद्ध है, वह यंत्र के समान काम करता रहता है। उसके पश्चात् हमारा साधारण ज्ञान आता है— वह सहजात ज्ञान की अपेक्षा उच्चतर अवस्था है। यह हमारा साधारण

धर्मविज्ञान

ज्ञान भ्रान्तिमय है, वह पद पद में भ्रम में जा पड़ता है, किन्तु उसकी गति इस प्रकार मृदु होने पर भी उसका प्रसार बहुत दूर तक है। इसे ही आप युक्ति अथवा विचार-शक्ति कहते हैं। अवश्य सहजात ज्ञान की अपेक्षा उसका प्रसार अधिक दूर तक है, किन्तु सहजात ज्ञान की अपेक्षा युक्तिविचार में अधिक भ्रम की आशङ्का है। इसकी अपेक्षा मन की और एक उच्चतर अवस्था विद्यमान है, ज्ञानातीत अवस्था—इस अवस्था में केवल योगिगण का ही अर्थात् जिन्होंने यत्न करके इस अवस्था को प्राप्त किया है, उनका ही अधिकार है। वह सहजात ज्ञान के समान भ्रान्ति से विहीन है, और युक्तिविचार से ही उसका अधिक प्रसार है। वह सर्वोच्च अवस्था है। हमारे लिए यह स्मरण रखना विशेष आवश्यक है कि, जिस प्रकार मनुष्य के भीतर महत् ही ज्ञान की निम्नभूमि, साधारण ज्ञानभूमि और ज्ञानातीत भूमि है, अर्थात् ज्ञान जिन तीन अवस्थाओं में स्थित रहता है, यह महत् उन सब प्रकारों से प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार इस बृहत् ब्रह्माण्ड में भी यही सर्वव्यापी बुद्धितत्व अथवा महत् सहजात ज्ञान, युक्तिविचार से उत्पन्न ज्ञान और विचार से अतीत ज्ञान, इन तीन प्रकारों से स्थित है।

यहाँ एक सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित होता है, और यह प्रश्न सदा पूछा जाता है। यदि पूर्ण ईश्वर ने इस जगत ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, तो यहाँ अपूर्णता क्यों है? हम जितना देखते हैं, उतने को ही ब्रह्माण्ड अथवा जगत कहते हैं—और वह हमारे साधारण ज्ञान

प्रकृति और पुरुष

अथवा युक्तिविचार से उत्पन्न ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसके बाहर हम कुछ भी देख नहीं पाते। यह प्रश्न ही एक असम्भव प्रश्न है। यदि हम एक बृहत् वस्तुराशि से क्षुद्र अंश-विशेष ग्रहण करें और उसकी ओर दृष्टिपात करें तो, स्वभावतः वह असम्पूर्ण प्रतीत होगा। यह जगत असम्पूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि हमने ही उसे असम्पूर्ण किया है। किस प्रकार हमने यह किया? पहले विचार करके देखा जाय, युक्तिविचार किसे कहते हैं, ज्ञान किसे कहते हैं। ज्ञान का अर्थ है सदृश वस्तु के सहित मिलन। आप लोगों ने मार्ग में जाकर एक मनुष्य को देखा, देख कर जाना, वह मनुष्य है। आपने अनेक मनुष्य देखे हैं, प्रत्येक ने आप लोगों के मन में एक संस्कार उत्पन्न किया है। एक नये मनुष्य को देखने के क्षण ही आप लोगों ने उसे अपने संस्कार के भाण्डार में ले जा कर देखा—वहाँ मनुष्य की अनेक छवियाँ विद्यमान हैं। तब इस नई छवि को शेष छवियों के सहित, उनके लिए निर्दिष्ट कोष में रक्खा—तब आप तृप्त हुए। कोई नया संस्कार आने पर यदि आप लोगों के मन में उसके सदृश सब संस्कार पहले से ही वर्तमान रहें, तब ही आप तृप्त होते हैं, और इस मिलन अथवा सहयोग को ही ज्ञान कहते हैं। अतएव ज्ञान का अर्थ, पहले से ही हमारी जो अनुभूति-समष्टि विद्यमान है, उसके सहित और एक सजातीय अनुभूति को एक ही कोष में प्रतिष्ठित कर देना है। तथा पहले से ही यदि आपका एक ज्ञान-भाण्डार न रहने पर कोई नया ज्ञान ही आपको हो नहीं सकता,

धर्मविज्ञान

यह उसका सर्वोत्तम प्रबल प्रमाण है । यदि आप का पूर्व ज्ञान कुछ न रहे अथवा अनेक यूरोपीय दार्शनिकों का जैसा मत है, मन यदि 'अनुत्कीर्ण फलक' ('Tabula Rasa') स्वरूप हो, तो उसके पक्ष में किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है; क्योंकि ज्ञान का अर्थ, पहले से ही जो सब संस्कार विद्यमान हैं, उनके सहित तुलना करके नूतन का ग्रहण मात्र ही है । ज्ञान का भाण्डार पहले से ही वर्तमान रहना चाहिये, जिसके सहित आप नये संस्कार को मिलाइयेगा । मान लीजिये, एक शिशु ने जन्म ग्रहण किया, जिसमें यह ज्ञान-भाण्डार नहीं है; ऐसी स्थिति में उसके पक्ष में किसी प्रकार का ज्ञान लाभ करना एकदम असम्भव है । अतएव स्वीकार करना ही होगा कि, उस शिशु में अवश्य ही इस प्रकार का एक ज्ञान-भाण्डार था, और इसी प्रकार अनन्त काल से ज्ञान लाभ हो रहा है । इस सिद्धान्त की अवहेलना करने का कोई अवलम्ब नहीं है । यह गणित के समान एक ध्रुव सिद्धान्त है । यह बहुत कुछ स्पेन्सर तथा अन्यान्य यूरोपीय दार्शनिकों के सिद्धान्त के सदृश है । उन्होंने केवल इतना ही देखा है कि अतीत ज्ञान का भाण्डार न रहने पर किसी प्रकार का ज्ञान लाभ असम्भव है, अतएव शिशु पूर्व ज्ञान लेकर जन्म ग्रहण करता है । उन्होंने यही सत्य समझा है कि, कारण कार्य में अन्तर्निहित रहता है, वह सूक्ष्म आकार में परिणत हो पीछे विकास प्राप्त करता है । परन्तु ये दार्शनिकगण कहते हैं कि, शिशु जो संस्कार लेकर जन्म ग्रहण करता है, वह उसके निज की अतीत

प्रकृति और पुरुष

अवस्था के ज्ञान से प्राप्त नहीं है, वह उसके पूर्व पुरुषों का सञ्चित संस्कार है; वंशानुक्रमिक सञ्चार के द्वारा वह उस शिशु के भीतर आया है। अत्यन्त शीघ्र ही ये समझेंगे कि यह मतवाद प्रमाणयुक्त नहीं है, और इसी बीच में अनेक ने इस वंशानुक्रमिक सञ्चार के मत के विरुद्ध तीव्र आक्रमण आरम्भ किया है। यह मत असत्य नहीं है, किन्तु असम्पूर्ण है। वह केवल मनुष्य के जड़ के भाग की व्याख्या मात्र करता है। यदि आप कहें—इस मतानुसार पारिपार्श्विक अवस्था (Environments) के प्रभाव की किस प्रकार व्याख्या की जा सकती है? इसके उत्तर में वे कहते हैं, अनेक कारण से मिल कर एक कार्य होता है, पारिपार्श्विक अवस्था उनमें से एक है! दूसरी ओर हिन्दू दार्शनिकगण कहते हैं, हम स्वतः ही अपनी पारिपार्श्विक अवस्था के गठनकर्ता हैं; क्योंकि, हम अतीत अवस्था में जैसे थे, वर्तमान में भी वही होंगे। हम इसे दूसरे प्रकार से व्यक्त करना चाहें तो कहेंगे, हम अतीत काल में जैसे थे, यहाँ अब भी उसी अवस्था को प्राप्त होते हैं।

अब हमने समझा, ज्ञान शब्द से क्या बोध होता है। ज्ञान और कुछ नहीं है, पुरातन संस्कारों के सहित एक नये संस्कार को गूँथना—एक ही कोष में सञ्चित करके रखना है—नये संस्कार को पहचान लेना है। पहचान लेने अथवा प्रत्यभिज्ञा का अर्थ क्या है? हममें पहले से ही जो सदृश संस्कारसमूह विद्यमान हैं, उनके सहित उसके मिलन का आविष्कार ही वह है। ज्ञान का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही यदि ठीक है, तो अवश्य स्वीकार करना होगा, इसी ज्ञान-

धर्मविज्ञान

लाभ की प्रणाली से, जितने सदृश विषय हैं, सब को देखना होगा। यही बात है न? मान लीजिये, आपको पत्थर के एक खण्ड को जानना है, तो उसके सहित सादृश्य अथवा सानुरूपता के लिए, उससे मिलाने के लिए आपको उसके सदृश पत्थर के सब खण्डों को देखना होगा। किन्तु जगत के सम्बन्ध में हम ऐसा कर नहीं पाते, क्योंकि, अपने साधारण ज्ञान के द्वारा हम उसका एक प्रकार का अनुभव मात्र प्राप्त करते हैं—उसके इस उस दिशा की ओर हम कुछ भी देख नहीं पाते, जिससे उसके सदृश वस्तु के सहित उसे मिला सकें। इसीलिए जगत हमारे निकट अबोध बोध होता है, क्योंकि, ज्ञान और विचार सर्वदा ही सदृश वस्तु के सहित मिलन-साधन में नियुक्त हैं। ब्रह्माण्ड का यह अंश जो हमारे ज्ञान से अवच्छिन्न है, वह हमें एक विस्मयकर नूतन पदार्थ प्रतीत होता है; उससे मिल सके, ऐसी कोई उसके सदृश वस्तु हम नहीं पाते। इसीलिए उस विषय में इतना विवाद है—हम सोचते हैं, जगत अत्यन्त भयानक और बुरा है; कभी कभी हम उसे अच्छा भी समझते अवश्य हैं, किन्तु साधारणतः उसे असम्पूर्ण सोचते हैं। जगत को तब ही जाना जायेगा, जब हम उसके समान मिल सके ऐसी सदृश वस्तु का आविष्कार कर सकेंगे। हम तब ही उस सब को जान सकेंगे, जब हम इस जगत के—अपने इस क्षुद्र अहंज्ञान के—बाहर जायेंगे, तब ही केवल जगत हमें ज्ञात होगा। जितने दिन तक हम यह नहीं कर लेते, उतने दिनों तक हमारे सब निष्फल यत्नों के द्वारा कदापि उसकी व्याख्या

प्रकृति और पुरुष

नहीं होगी, क्योंकि, ज्ञान का अर्थ है सदृश विषय का आभिप्राय, और हमारी यह साधारण ज्ञानभूमि हमें केवल जगत का आंशिक भाव मात्र प्रदान करती है। यह समष्टि महत् अथवा हम अपने साधारण प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा में जिन्हें ईश्वर कहते हैं, उनकी धारणा के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारी ईश्वर सम्बन्धीय जो धारणा है, वह उनके प्रति एक विशेष प्रकार का ज्ञानमात्र, —उनकी आंशिक धारणामात्र है—उनके अन्यान्य सब भाव हमारी मानवीय असम्पूर्णता के द्वारा आवृत हैं।

“सर्वव्यापी हम इतने बृहत हैं कि, यह जगत तक हमारा अंशमात्र है।”^१

इसी कारण हम ईश्वर को असम्पूर्ण देखते हैं, और हम उनका भाव कभी समझ नहीं पाते, क्योंकि, वह असम्भव है। उनको समझने का एकमात्र उपाय, युक्तिविचार के अतीत प्रदेश में जाना है, अहंज्ञान के बाहर जाना।

“जब श्रुत और श्रवण, चिन्तित और चिन्ता, इन सब के बाहर जाओगे, तब ही केवल सत्य लाभ करोगे।”^२

“शास्त्र की सीमा के बाहर चले जाओ, क्योंकि, वे जगत्-

१—विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।

—भगवद्गीता १० म, ४२ श्लोक ।

२—तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।

—भगवद्गीता—२ य, ५२ श्लोक ।

धर्मविज्ञान

कारण त्रिगुणामक प्रकृति तक ही सीमित हैं, तथा वहीं तक शिक्षा देते हैं । ”^१

इसके बाहर जाने पर ही हम सामञ्जस्य और मिलन देख पाते हैं, उसके पहले नहीं ।

यहाँ तक यह स्पष्ट ज्ञात हो गया कि, यह बृहत् और क्षुद्र ब्रह्माण्ड एक ही नियम से निर्मित हैं, और इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड के एक सामान्य अंश को ही हम जानते हैं । हम ज्ञान की निम्न भूमि भी नहीं जानते, ज्ञान से अतीत भूमि को भी नहीं जानते । हम केवल साधारण ज्ञानभूमि को ही जानते हैं । यदि कोई व्यक्ति कहे, मैं पापी हूँ—वह निर्बोध मात्र है, क्योंकि, वह अपने को नहीं जानता । वह अपने सम्बन्ध में नितान्त अज्ञान है । वह केवल अपने एक अंश को जानता है, क्योंकि, ज्ञान उसकी मानसभूमि के केवल एक अंश में व्याप्त है । समग्र ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में भी यही बात है । युक्तिविचार के द्वारा उसके एक अंश मात्र को जानना ही सम्भव है, किन्तु जगत् प्रपञ्च कहने पर ज्ञान की निम्न भूमि, साधारण ज्ञान भूमि, ज्ञानातीत भूमि, व्यष्टि महत्, समष्टि महत् तथा उनके पश्चात् के सब विकार—इन सब का ही बोध हो जाता है, और ये सब साधारण ज्ञान के अतीत हैं ।

कौन प्रकृति को परिणाम प्राप्त कराता है ? हमने यहाँ तक

१—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

—भगवद्गीता—२ य, ४५ श्लोक !

देखा है, प्राकृतिक सभी वस्तुएँ यहाँ तक कि प्रकृति स्वयँ भी जड़ और अचेतन है। ये नियम के अधीन होकर काम कर रहे हैं—सभी विभिन्न द्रव्यों के मिश्रणस्वरूप हैं और अचेतन हैं। मन, महत्त्व, निश्चयात्मिका वृत्ति—ये सब ही अचेतन हैं। किन्तु वे सब ही ऐसे एक पुरुष के चित् अथवा चैतन्य के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, जो इन सबके अतीत हैं, और सांख्य मतानुयायियों ने इन्हें ही पुरुष नाम की संज्ञा दी है। ये पुरुष जगत में—प्रकृति में—ये जो सब परिणाम हो रहे हैं, उनके साक्षीस्वरूप कारण हैं—अर्थात् इन पुरुष को ही यदि सार्वजनीन अर्थ में ग्रहण किया जाय तो वे ही ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं।^१ यह कहा जाता है कि, ईश्वर की इच्छा से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। साधारण दैनिक वाक्य के व्यवहार के हिसाब से यह अत्यन्त सुन्दर वाक्य हो सकता है, किन्तु उसकी अपेक्षा उसका और अधिक मूल्य नहीं है। इच्छा किस प्रकार सृष्टि का कारण हो सकती है ? इच्छा—प्रकृति का तीसरा अथवा चौथा विकार है। अनेक वस्तुएँ इसके पहले ही बनी हैं। उनकी सृष्टि किसने की ? इच्छा एक यौगिक पदार्थ मात्र है और जो कुछ यौगिक है वह सब ही प्रकृति से उत्पन्न है। इच्छा स्वयँ कदापि प्रकृति की सृष्टि नहीं कर सकती। वह एक अभिश्र वस्तु

१—इसके पहले महत्त्व को ईश्वर कहा गया है, यहाँ फिर पुरुष के सार्वजनीन भाव को ईश्वर कहा गया। ये दोनों बातें आपातविरोधी प्रतीत होती हैं। यहाँ केवल यही समझना होगा कि पुरुष के महत्त्वरूप उपाधि ग्रहण करने पर ही उन्हें ईश्वर कहा जाता है।

धर्मविज्ञान

नहीं है। अतएव ईश्वर की इच्छा से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है, यह कहना युक्तिविरुद्ध है। मनुष्य के भीतर इच्छा हमारे अहंज्ञान के अल्प अंशमात्र में व्याप्त है। कुछ व्यक्ति कहते हैं, वह हमारे मस्तिष्क का सञ्चालन करती है। यदि यही वह करती होती, तो आप इच्छा करते ही मस्तिष्क का कार्य बन्द कर सकते थे, किन्तु यह तो आप कर नहीं पाते। अतएव इच्छा मस्तिष्क को सञ्चालित नहीं कर रही। हृदय को गतिशील कौन कर रहा है? इच्छा कदापि यह नहीं कर रही है, क्योंकि, यदि ऐसा ही होता, तो इच्छा करते ही आप हृदय की गति रोक सकते थे। इच्छा आपकी देह को भी परिचालित नहीं कर रही है, ब्रह्माण्ड को भी नियमित नहीं कर रही है। दूसरी कोई वस्तु उन सब की नियामक है—इच्छा जिसका एक विकास मात्र है। इस देह को ऐसी एक शक्ति परिचालित कर रही है, इच्छा जिसका विकास मात्र है। समग्र जगत इच्छा के द्वारा परिचालित नहीं हो रहा है, इसीलिए इच्छा को कारण बनाने पर इसकी ठीक व्याख्या नहीं होती। मान लीजिये, हमने मान लिया, इच्छा ही हमारी देह को चला रही है, अब इच्छा के अनुसार हम इस देह को परिचालित नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए हमने विरक्ति प्रकाशित करना आरम्भ किया। यह तो हमारा ही दोष है, क्योंकि, इच्छा ही हमारे देह की परिचालनकर्त्री है यह मान लेने का हमें कोई अधिकार नहीं था। इसी प्रकार—यदि हम मान लें कि, इच्छा ही जगत का परिचालन कर रही है और उसके पश्चात् देखें, प्रकृत अथवा वास्तविक घटना के सहित यह बात मिल नहीं रही है तो, यह हमारा

प्रकृति और पुरुष

ही दोष है। ये पुरुष इच्छा नहीं हैं, अथवा बुद्धि नहीं हैं, क्योंकि, बुद्धि एक यौगिक पदार्थ मात्र है। किसी प्रकार के जड़ पदार्थ के न रहने पर किसी प्रकार की बुद्धि भी नहीं रह सकती। मनुष्य ने इस जड़ मस्तिष्क का आकार धारण किया है। जहाँ भी बुद्धि है, वहीं किसी न किसी आकार में जड़ पदार्थ अवश्य ही रहेगा। अतएव बुद्धि जब यौगिक पदार्थ हुआ, तब पुरुष क्या है? वह महत्त्व भी नहीं है, निश्चयात्मिका वृत्ति भी नहीं है, किन्तु उन दोनों का ही कारण है। उसका सान्निध्य ही उन सब को क्रियाशील बनाता है और परस्पर मिलन कराता है। पुरुष की उन सब वस्तुओं के सहित तुलना की जा सकती है, जिनका केवल सान्निध्य ही रासायनिक कार्य को तुरन्त गतिशील बनता है, जैसे सोना गलाना हो तो उसमें पोटैसियम साइनाइड (Cyanide of Potassium) मिलाना होता है। पोटैसियम साइनाइड अलग रह जाता है, उस पर कोई रासायनिक कार्य नहीं होता, किन्तु सोना गलाने का काम सफल करने के लिए उसके सान्निध्य का प्रयोजन है। पुरुष के सम्बन्ध में भी यही बात है। वह प्रकृति के सहित मिश्रित नहीं होता, वह बुद्धि या महत् अथवा उनका किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह शुद्ध पूर्ण आत्मा है।

“मेरे साक्षीस्वरूप विद्यमान रहने के कारण प्रकृति यह सब चेतन और अचेतन का सृजन कर रही है।”^१ तो फिर प्रकृति

१—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

गीता ९ म, १० श्लोक।

धर्मविज्ञान

में यह चेतनता कहाँ से आई ? पुरुष ही इस चेतनत्व की भित्ति है और यह चेतनत्व ही पुरुष का स्वरूप है। वह ऐसा एक तत्व है, जो वाक्य से व्यक्त किया नहीं जा सकता, बुद्धि के द्वारा समझा नहीं जा सकता, किन्तु हम जिसे ज्ञान कहते हैं, उसका उपादान-स्वरूप है। यह पुरुष हमारा यह साधारण ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञान एक यौगिक पदार्थ है, परन्तु इस ज्ञान के भीतर जो कुछ उज्ज्वल और उत्तम है, वह उस पुरुष का ही है। पुरुष में चैतन्य है, किन्तु पुरुष को बुद्धिमान अथवा ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता, किन्तु वह ऐसी वस्तु है, जिसके रहने पर ही ज्ञान सम्भव होता है, पुरुष में जो चित है, वह प्रकृति से मिळ कर हमारे निकट बुद्धि अथवा ज्ञान के नाम से परिचित होती है। जगत में जो कुछ सुख, आनन्द, शान्ति है, सब पुरुष की है, परन्तु वह सब मिश्र है, क्योंकि उसमें पुरुष और प्रकृति का मिश्रण है।

“जहाँ किसी प्रकार का सुख है, जहाँ किसी प्रकार आनन्द है, वहाँ उस अमृत स्वरूप पुरुष का एक कण विद्यमान है, यह समझ लेना होगा।”^१

ये पुरुष ही समग्र जगत् का महा आकर्षण—स्वरूप हैं, वे यद्यपि उसके द्वारा अस्पृष्ट और उसके सहित असंपृष्ट हैं, तथापि वे समग्र जगत् को आकर्षित कर रहे हैं। मनुष्य को जो काञ्चन

१—एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति ।—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ र्थ अध्याय, ३ य ब्राह्मण, ३२ श्लोक ।

प्रकृति और पुरुष

के अन्वेषण में दौड़ते देखा जाता है, उसका कारण मनुष्य के न जानने पर भी यह है कि, वास्तव में उस काञ्चन में पुरुष का एक स्फुलिङ्ग विद्यमान है। जब मनुष्य सन्तान की प्रार्थना करता है, अथवा स्त्रियाँ जब स्वामी की आकांक्षा करती हैं, तब कौनसी शक्ति उन्हें आकर्षित करती है ? उस सन्तान और उस स्वामी के भीतर जो उस पुरुष का अंश है, वही उनकी आकर्षणी शक्ति है। ये पुरुष सब के ही पश्चात् विद्यमान हैं, केवल उसमें जड़ का आवरण पड़ा है। और कुछ भी किसी को आकर्षित नहीं कर सकता। इस अचेतनात्मक जगत में वह पुरुष ही एकमात्र चेतन है। ये ही सांख्य के पुरुष हैं। अतएव इससे निश्चित रूप से समझा जाता है कि ये पुरुष अवश्य ही सर्वव्यापी हैं, क्योंकि जो सर्वव्यापी नहीं है, वह अवश्य ही सीमाबद्ध है। सब सीमाबद्ध भाव ही किसी कारण के कार्यस्वरूप हैं, और जो कार्यस्वरूप है, उसका अवश्य आदि अन्त रहेगा। यदि पुरुष सीमाबद्ध हों, तब वे अवश्य ही विनाश को प्राप्त होंगे, वे तो फिर चरम तत्व नहीं हुए, वे मुक्तस्वरूप नहीं हुए, वे किसी कारण के कार्यस्वरूप—उत्पन्न पदार्थ हुए। अतएव यदि वे सीमाबद्ध न हों, तो वे सर्वव्यापी हैं। कपिल के मत के अनुसार पुरुष की संख्या एक नहीं है, बहु है। अनन्त-संख्यक पुरुष विद्यमान है, आप भी एक पुरुष हैं, मैं भी एक पुरुष हूँ, प्रत्येक ही एक एक पुरुष है—वे मानो अनन्त-संख्यक वृत्तस्वरूप हैं। तिस पर उनमें से प्रत्येक भी अनन्त है। पुरुष जन्मते भी नहीं हैं, मरते भी नहीं हैं। वे मन भी नहीं

धर्मविज्ञान

हैं, भूत भी नहीं हैं। और हम जो कुछ जानते हैं, सब ही उनके प्रतिबिम्बस्वरूप है। हम निश्चित रूप से जानते हैं कि यदि वे सर्वव्यापी हों, तो उनका जन्म-मृत्यु कदापि हो नहीं सकता। प्रकृति उन पर अपनी छाया—जन्म और मृत्यु की छाया प्रक्षेप कर रही है, किन्तु वे स्वभावतः नित्य हैं। यहाँ तक हमने देखा, कपिल का मत अत्यन्त अपूर्व है।

अब हम इस सांख्यमत के विरुद्ध जो जो कहना है, उन सब विषयों की आलोचना करेंगे। जहाँ तक हमने देखा, उससे समझा—यह विश्लेषण निर्दोष है—इसका गणित-विज्ञान अखण्डनीय है—उसके विरुद्ध कोई आपत्ति हो नहीं सकती। हमने कपिल से यह प्रश्न किया था, प्रकृति की किसने सृष्टि की? उसका उत्तर हमने यह पाया कि, वह सृष्ट नहीं है। उन्होंने यह भी कहा है कि पुरुष असृष्ट और सर्वव्यापी है और इस पुरुष की संख्या अनन्त है। हमें सांख्य के इस अन्तिम सिद्धान्त का प्रतिवाद करके उत्कृष्टतर सिद्धान्त में उपनीत अथवा उपस्थित होना होगा और ऐसा करने से ही हम वेदान्त के अधिकार में आ उपस्थित होंगे। हम पहले ही यह आशंका उठावेंगे कि प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनन्त किस प्रकार रह सकते हैं। उसके पश्चात् हम इस भाव से तर्क करेंगे कि वह सम्पूर्ण :: ... (Generalisation) नहीं है, अतएव हम

१—अनेक विशेष विशेष घटनाओं का अनुशीलन करके उनमें से साधारण तत्व के आविष्कार करने को Generalisation अथवा सामान्यीकरण कहते हैं।

प्रकृति और पुरुष

सम्पूर्ण सिद्धान्त में उपस्थित नहीं हुए। उसके पश्चात् हम देखेंगे वेदान्तीगण किस प्रकार इन सब आपत्तियों और आशंकाओं को काट कर सम्पूर्ण सिद्धान्त में उपस्थित होते हैं। किन्तु वस्तुतः गौरव सब कपिल का ही है। प्रायःसम्पूर्ण अष्टालिका को सम्पूर्ण करना अत्यन्त सहज कार्य है।

तीसरा अध्याय

सांख्य और अद्वैत

हम पहले आपसे जो सांख्यदर्शन की आलोचना कर रहे थे, उसकी मोटी बातों का उल्लेख संक्षेप में यहाँ करेंगे; क्योंकि इस वक्तृता से हम सांख्यदर्शन की असम्पूर्णताएँ कौन कौन सी हैं, उसे स्पष्ट करने का और वेदान्त ने आकर किस प्रकार इन असम्पूर्णताओं को सम्पूर्ण कर दिया, यह समझना चाहते हैं। आपको अवश्य ही स्मरण है कि, सांख्यदर्शन के मत से प्रकृति से ही चिन्ता, बुद्धि, विचार, राग, द्वेष, स्पर्श, रस—एक वाक्य में, सब का विकास हो रहा है। यह प्रकृति सत्त्व, रजः और तमः नामक तीन प्रकार के उपादानों से गठित है। ये तीनों गुण नहीं हैं, जगत के उपादान-कारण हैं; इनसे ही जगत उत्पन्न होता है, और युग-प्रारम्भ में ये सामञ्जस्य भाव से अथवा साम्यावस्था में रहते हैं। सृष्टि आरम्भ होने पर ही यह साम्यावस्था भङ्ग होती है। तब ये द्रव्य परस्पर नाना रूप में मिल कर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। इसके प्रथम विकास को सांख्यवादी महत् (अर्थात् सर्वव्यापी बुद्धि) कहते हैं। और उससे अहंज्ञान की उत्पत्ति होती है। अहंज्ञान से मन अथवा सर्वव्यापी मनस्तत्त्व का उद्भव होता है। इस अहंज्ञान अथवा अहंकार से ही ज्ञान और कर्मेन्द्रिय तथा तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस आदि के सूक्ष्म

सूक्ष्म परमाणु की उत्पत्ति होती है। इस अहंकार से ही सब सूक्ष्म परमाणुओं का उद्भव, और इन सूक्ष्म परमाणुसमूह से ही स्थूल परमाणुसमूह की उत्पत्ति होती है, जिसे हम जड़ कहते हैं। तन्मात्रा (अर्थात् जो सब परमाणु दिखाई नहीं पड़ते अथवा जिनका परिमाण नहीं किया जा सकता) के पश्चात् सब स्थूल परमाणुओं की उत्पत्ति होती है, जिन्हें हम अनुभव और इन्द्रियगोचर कर सकते हैं। बुद्धि, अहङ्कार और मन यह त्रिविध कार्यसमन्वित चित्त, प्राण नामक शक्तिसमूह को सृष्ट करके उन्हें परिचालित कर रहा है। इस प्राण के सहित श्वास-प्रश्वास का कोई सम्बन्ध नहीं है, आपकी यह धारणा यहीं परित्याग कर देना उचित है। श्वास-प्रश्वास प्राण अर्थात् सर्वव्यापी शक्ति का एक कार्य मात्र है। किन्तु यहाँ 'प्राणसमूह' शब्द से उस स्नायवीय शक्तिसमूह का बोध होता है, जो समस्त देह को चला रहा है एवं चिन्ता तथा देह के नानाविध क्रिया-रूप में प्रकाशित हो रहा है। श्वास-प्रश्वास की गति इस प्राणसमूह का प्रधान और प्रत्यक्षतम प्रकाश है। यदि वायु के द्वारा ही यह श्वास-प्रश्वास का कार्य होता, तो मृत व्यक्ति भी श्वास-प्रश्वास का काम करता। प्राण ही वायु के ऊपर कार्य कर रहा है, वायु प्राण के ऊपर नहीं कर रहा। यह प्राणसमूह जीवन-शक्ति-स्वरूप समुद्रय शरीर के ऊपर कार्य कर रहा है, और वे मन एवं इन्द्रियगण (अर्थात् दो प्रकार के केन्द्र) के द्वारा परिचालित हो रहे हैं। यहाँ तक सुन्दर बात है। मनस्तत्त्व का विश्लेषण खूब स्पष्ट और परिष्कार हो गया, और सोच कर देखिये, कितने युग पहले यह तत्त्व

धर्मविज्ञान

आविष्कृत हुआ है—यह जगत में प्राचीनतम युक्तिसिद्ध चिन्ता-प्रणाली है। जहाँ भी किसी प्रकार का दर्शन अथवा युक्तिसिद्ध चिन्ता-प्रणाली देखने को मिलती है, वह कपिल की कुछ न कुछ ऋणी है। जहाँ भी मनस्तव-विज्ञान का कुछ न कुछ यत्न हुआ है, वहीं इस चिन्ता-प्रणाली के जनक, इस कपिलनामधेय व्यक्ति की वह ऋणी है—यह देखने को मिलता है।

इतनी दूर तक हमने देखा कि, यह मनोविज्ञान अत्यन्त अपूर्व है, किन्तु हम जितने अग्रसर होंगे, उतना देखेंगे, किसी किसी विषय में हमें इससे विभिन्न मत का अवलम्बन करना होगा। कपिल का प्रधान मत है—परिणाम। वे कहते हैं, एक वस्तु दूसरी वस्तु का परिणाम अथवा विकारस्वरूप है; क्योंकि उनके मत के अनुसार कार्यकारणभाव का लक्षण यह है कि—कार्य अन्य रूप में परिणत कारण मात्र है,^१ क्योंकि हम जितनी दूर देख पा रहे हैं, समग्र जगत ही क्रमागत परिणाम को प्राप्त हो रहा है। यह समग्र ब्रह्माण्ड निश्चित रूप से किसी उपादान से अर्थात् प्रकृति के परिणाम से उत्पन्न हुआ है, अतएव वह उसके कारण से स्वरूपतः कभी विभिन्न हो नहीं सकता, केवल जब वह विशिष्ट आकार धारण करता है, तब वह सीमाविशिष्ट होता है। यह उपादान स्वयं निराकार है। किन्तु कपिल के मत के अनुसार अव्यक्त प्रकृति से वैषम्य-प्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी तक कोई भी, पुरुष अर्थात्

१—कारणभावाच्च ।—सांख्यसूत्र, १/११८

भोक्ता अथवा प्रकाशक के सहित समान नहीं है। एक कीचड़ का गोला जिस प्रकार है, मनसमष्टि भी उसी प्रकार है, समग्र जगत भी उसी प्रकार है। स्वरूपतः उनमें चैतन्य नहीं है, किन्तु उनमें हम विचारबुद्धि और ज्ञान देख पाते हैं, अतएव उनके पश्चात्—समग्र प्रकृति के पश्चात्—निश्चित रूप से ऐसी कोई सत्ता है, जिसका आलोक उन पर पड़ कर, महत्, अहंज्ञान और यह सब नाना वस्तुओं के रूप में प्रतीत हो रहा है। और इस सत्ता को ही कपिल पुरुष अथवा आत्मा कहते हैं, वेदान्ती भी उसे आत्मा कहते हैं। कपिल के मत के अनुसार पुरुष अमिश्र पदार्थ है—वह यौगिक पदार्थ नहीं है। वही एकमात्र अजड़ पदार्थ है, और सब प्रपञ्च विकार ही जड़ है। पुरुष ही एकमात्र ज्ञाता है। मान लीजिये, हम एक बोर्ड देख रहे हैं। पहले बाहर के सब यन्त्र मस्तिष्क-केन्द्र में (कपिल के मत से इन्द्रिय में) उस विषय को ले आयेगे; वे फिर उस केन्द्र से मन में जा कर उस पर आघात करेंगे—मन उन्हें फिर अहंज्ञान रूप दूसरे एक पदार्थ में आवृत्त करके महत् अथवा बुद्धि को समर्पित करेगा। किन्तु महत् में स्वतः की कार्य-शक्ति नहीं है—उसके पश्चात् भाग में जो पुरुष विद्यमान है, वे ही वास्तव में कर्ता हैं। ये सब उनके भृत्य स्वरूप, विषय का आघात उनके समीप ला देते हैं, तब उनके आदेश देने पर महत् प्रतिघात अथवा प्रतिक्रिया करता है। पुरुष ही भोक्ता, बोद्धा, यथार्थ सत्ता, सिंहासन पर बैठे हुए राजा, मनुष्य की आत्मा हैं और वे अजड़ हैं। जिस कारण वे अजड़ हैं, उस कारण वे अवश्य ही अनन्त हैं, उनकी कोई सीमा नहीं रह सकती।

धर्मविज्ञान

इसलिए इन पुरुषगण में से प्रत्येक ही सर्वव्यापी हैं, तथापि केवल सूक्ष्म और जड़ पदार्थ के माध्यम से कार्य कर सकते हैं। मन, अहंज्ञान, सस्तिष्क-केन्द्र अथवा इन्द्रियगण और प्राण इन सब को लेकर सूक्ष्म शरीर अथवा किस्तान-दर्शन में जिसे मानव का 'आध्यात्मिक देह' कहते हैं, वह गठित है। इस देह को ही पुरस्कार अथवा दण्ड प्राप्त होता है, यही विभिन्न स्वर्गों में जाता रहता है, इसका ही बार बार जन्म होता है; क्योंकि, हम पहले से ही देखते आये हैं, पुरुष अथवा आत्मा के लिए आवागमन असम्भव है। गति का अर्थ है आना-जाना, और जो एका स्थान से दूसरे स्थान में जाता है, वह कदापि सर्वव्यापी नहीं हो सकता। यह लिङ्ग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर ही आता जाता है। यहाँ तक हमने कपिल के दर्शन में देखा कि आत्मा अनन्त है और एकमात्र वही प्रकृति का परिणाम नहीं है। एकमात्र वही प्रकृति के बाहर है, किन्तु वह प्रकृति में बद्ध होकर विद्यमान है ऐसी प्रतीति हो रही है। प्रकृति ने पुरुष को घेर लिया है, इसीलिए पुरुष ने अपने को प्रकृति के सङ्ग मिला दिया है। पुरुष सोचते हैं, 'हम लिङ्ग शरीर हैं,' 'हम स्थूल शरीर हैं' और इसीलिए वे सुख-दुःख भोग कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में सुख-दुःख आत्मा का नहीं है, वह लिङ्ग शरीर अथवा स्थूल शरीर का है। जब किसी स्नायुसमूह पर आघात होता है, तब हम कष्ट अनुभव करने लगते हैं; हम तुरन्त उनकी उपलब्धि कर लेते हैं। यदि हमारी अङ्गुलि के स्नायुसमूह नष्ट हों तो हमारी अङ्गुलि को काट कर फेंक देने पर भी हम कष्ट

भोग नहीं करेंगे। अतएव सुख-दुःख स्नायु-केन्द्र समूह का है। मान लीजिये, हमारी दर्शनेन्द्रिय नष्ट हो गई, ऐसा होने पर हमारी आँखों का यन्त्र विद्यमान रहने पर भी हम रूप के द्वारा कोई सुख-दुःख अनुभव नहीं करेंगे। अतएव यह स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है कि, सुख-दुःख आत्मा का नहीं है, वह मन और देह का है।

आत्मा में सुख-दुःख कुछ भी नहीं है, वह सब विषयों का साक्षीस्वरूप है। जो कुछ हो रहा है, उसका ही नित्य साक्षीस्वरूप है, किन्तु वह किसी कर्म का किसी प्रकार का फल ग्रहण नहीं करता।

“सूर्य जिस प्रकार सकल लोक की आँखों की दृष्टि का कारण होने पर भी स्वयँ किसी आँख के दोष से लिप्त नहीं होता, पुरुष भी उसी प्रकार है।”^१

“जैसे स्फटिक के एक खण्ड के सम्मुख लाल फूल रखने पर स्फटिक लाल दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृति के प्रतिबिम्ब के द्वारा सुख-दुःख में लिप्त प्रतीत होता है, किन्तु वह सर्वदा ही अपरिणामी है।”^२

यदि हम उसकी अवस्था का, जहाँ तक सम्भव है, यथातथ्य वर्णन करना चाहते हैं तो कहना होगा कि ध्यानकाल में हम जो भाव अनुभव करते हैं, वह प्रायः उसी प्रकार है। इस ध्यानावस्था में ही आप पुरुष से अत्यन्त सन्निहित^३ हो जाते हैं। अतएव हम देख रहे हैं,

१—कठोपनिषद्, २ य वल्ली, २ य अध्याय २२ श्लोक देखिये।

३—कुसुमवच्च मणिः।—सांख्यसूत्र, २।३५.

धर्माविज्ञान

योगिगण इस ध्यानावस्था को क्यों सर्वोच्च अवस्था कहा करते हैं; क्योंकि पुरुष के सहित आपका यह एकत्वबोध—जड़ अवस्था अथवा क्रियाशील अवस्था नहीं है। वह ध्यानावस्था है। यही सांख्य-दर्शन है।

इसके पश्चात् सांख्यवादी यह भी कहते हैं कि, प्रकृति के ये सब विकार आत्मा के लिए हैं, उसके विभिन्न उपादान के सम्मिलन आदि सब ही उससे स्वतन्त्र और किसी के लिए हैं। इसलिए जो इन नानाविध मिश्रण को हम प्रकृति अथवा जगत्प्रपञ्च कहते हैं—यह जो हमारे भीतर और चहुँ ओर क्रमागत परिवर्तन-परम्परा चर रही है, वह आत्मा के भोग और अपवर्ग अथवा मुक्ति के लिए है। आत्मा सर्वनिम्न अवस्था से सर्वोच्च अवस्था तक स्वयं भोग करके उससे अभिज्ञता अथवा ज्ञान सञ्चय कर सकती है, और जब आत्मा यह अभिज्ञता प्राप्त करती है, तब वह समझ सकती है कि, वह किसी काल में भी प्रकृति से बद्ध नहीं थी, वह सर्वदा ही उससे सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी—तब वह यह भी देख पाती है कि, वह अविनाशी है, उसका आना जाना कुछ भी नहीं है, स्वर्ग में जाना, फिर यहाँ आकर उत्पन्न होना—सभी प्रकृति का है—उसके निज का नहीं है। तब ही आत्मा मुक्त हो जाती है। इसी प्रकार समस्त प्रकृति आत्मा का भोग अथवा अभिज्ञता का सञ्चय करने के लिए काम करती जा रही है, और आत्मा उसी चरम लक्ष्य में जाने के लिए यह अभिज्ञता सञ्चय कर रही है। तथा

सांख्य ओर अद्वैत

मुक्ति ही यह चरम लक्ष्य है। सांख्यदर्शन के मत के अनुसार इस आत्मा की संख्या बहु है। अनन्तसंख्यक आत्माएँ विद्यमान हैं। उसका और एक सिद्धान्त यह है कि, ईश्वर नहीं है, जगत का सृष्टिकर्ता कोई नहीं है। सांख्यवादी कहते हैं, प्रकृति ही जब इन सब विभिन्न रूपों का सृजन करने में समर्थ है, तब ईश्वर स्वीकार करने का प्रयोजन नहीं है।

अब हमें सांख्यवादियों के इन तीन मतों का खण्डन करना होगा। प्रथम यह कि ज्ञान अथवा इस प्रकार जो कुछ है, वह आत्मा का नहीं है, वह सम्पूर्ण रूप से प्रकृति के अधिकार में है, आत्मा निर्गुण और अरूप है। सांख्य का द्वितीय मत, जिसका हम खण्डन करेंगे, वह यह है, ईश्वर नहीं है;—वेदान्त दिखायेगा, ईश्वर स्वीकार न करने पर जगत की किसी प्रकार की व्याख्या ही नहीं हो सकती। तृतीयतः हम लोगों को दिखलाना होगा कि, बहु आत्माएँ रह नहीं सकतीं, आत्मा अनन्तसंख्यक हो नहीं सकती, जगतब्रह्माण्ड में एक आत्मा मात्र है—और वह एक ही बहु रूप में प्रतीत हो रही है।

पहले हम सांख्य के इस प्रथम सिद्धान्त को लेकर आलोचना करेंगे कि, ज्ञानचैतन्य सम्पूर्ण रूप से प्रकृति के अधिकार में है, आत्मा में ज्ञानचैतन्य नहीं है। वेदान्त कहता है, आत्मा का स्वरूप असीम है अर्थात् वह पूर्ण सत्ता ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। तथापि हमारा सांख्य के सहित इस विषय में एकमत है कि, वे जिसे

धर्मविज्ञान

ज्ञान कहते हैं, वह एक यौगिक पदार्थ मात्र है । दृष्टान्तस्वरूप, हमें विषय की अनुभूति किस प्रकार होती है, इस व्यापार की आलोचना की जाय । हमें स्मरण है कि, चित्त ही बाहर की विभिन्न वस्तु को ले रहा है, उसके ही ऊपर बाहरी विषयों का आघात आ रहा है और उससे ही प्रतिक्रिया हो रही है । मान लीजिये, बाहर कोई वस्तु विद्यमान है । हम एक बोर्ड देख रहे हैं । उसका ज्ञान किस प्रकार से हो रहा है ? बोर्ड का स्वरूप अज्ञात है, हम कभी उसे जान नहीं सकते । जर्मन दार्शनिकगण उसे 'वस्तु का स्व-रूप' (Thing in itself) कहते हैं । वह बोर्ड स्वरूपतः जो है, वही अज्ञेय सत्ता 'क' हमारे चित्त के ऊपर कार्य कर रही है और चित्त प्रतिक्रिया कर रहा है । चित्त एक सरोवर के समान है । यदि सरोवर पर आप एक पत्थर फेंकेंगे, ज्यों ही पत्थर उस सरोवर पर आघात करेगा त्यों ही पत्थर की ओर सरोवर के प्रतिक्रियास्वरूप एक तरङ्ग आयेगी । आप विषय की अनुभूति के समय वास्तव में इस तरङ्ग को ही देखा करते हैं । तथा वह तरङ्ग बिल्कुल ही उस पत्थर के समान नहीं है—वह एक तरङ्ग है । अतएव वही यथार्थ बोर्ड 'क' ही पत्थर के रूप में मन के ऊपर आघात कर रहा है, तथा मन उस अज्ञानकारी पदार्थ की दिशा में एक तरङ्ग फेंक रहा है । उसकी ओर यह जो तरङ्ग फेंकी जा रही है, उसे ही हम बोर्ड नाम से संज्ञा देते हैं । हम आपको देख रहे हैं । आप स्वरूपतः जो हैं, वह अज्ञात और अज्ञेय है । आप वही अज्ञात सत्ता हैं । 'क'—स्वरूप आप हमारे मन के ऊपर कार्य कर रहे हैं, और मन जिस दिशा से यह कार्य हुआ

था, उसकी ओर एक तरङ्ग निक्षेप करता है, तथा उस तरङ्ग को ही हम अमुक नर अथवा अमुक नारी कहा करते हैं ।

इस ज्ञानक्रिया के दो उपादान हैं—उनमें से एक भीतर से और दूसरा बाहर से आ रहा है, तथा इन दोनों का ही मिश्रण (क+मन) हमारा बाह्य जगत है । सकल ज्ञान प्रतिक्रिया का फल है । तिमि मत्स्य (मछली) के सम्बन्ध में गणना के द्वारा स्थिर किया गया है कि, उसकी पूँछ में आघात करने के अनेक क्षणों के पश्चात् उसका मन उस पूँछ पर प्रतिक्रिया करता है और तब वह पूँछ कष्ट का अनुभव करती है । शुक्ति (सीप) की बात लीजिये, एक बालू का कण* उस शुक्ति के खोल के भीतर प्रवेश करके उसे उत्तेजित करता रहता है—तब शुक्ति बालू के कण के चहुँ ओर अपना रस प्रक्षेप करती है—उससे ही मुक्ता उत्पन्न होता है । दो वस्तुओं से मुक्ता बनता है । प्रथमतः शुक्ति के शरीर से निकले रस से और दूसरे, बाहर से दिये गये आघात से । इस टेबुल का हमारा ज्ञान भी उसी प्रकार का है—क+मन । उस वस्तु को जानने का यत्न तो मन ही करेगा; अतः मन उसे समझने के लिए अपनी सत्ता कुछ अंश में उसे प्रदान करेगा, तथा ज्यों ही हमने उसे जाना, त्यों ही वह एक यौगिक पदार्थ बन कर उपस्थित हुआ—‘ क + मन । भीतर की अनुभूति के सम्बन्ध में अर्थात् जब हम अपने को

* वैज्ञानिक पण्डितों के मतानुसार, बालू के कण से मुक्ता की उत्पत्ति होती है—इस लोकप्रचलित विश्वास का कोई आधार नहीं है । सम्भवतः शुद्ध कीटाणुविशेष (Parasite) से मुक्ता की उत्पत्ति होती है ।

धर्मविज्ञानं

जानने की इच्छा करते हैं, तब भी इसी प्रकार का व्यापार घटित होता है। यथार्थ आत्मा अथवा हम, जो हमारे भीतर विद्यमान है, वह भी अज्ञात और अज्ञेय है। उसे 'ख' कहा जाय। जब हम अपने को अमुक व्यक्तिविशेष के रूप में जानना चाहते हैं, तब यह 'ख', 'ख'+मन इस प्रकार प्रतीत होता है। जब हम अपने को जानना चाहते हैं, तब यह 'ख' मन के ऊपर एक आघात करता है, मन भी तब उस 'ख' पर आघात करता है। अतएव हमारे समग्र जगत में ज्ञान को 'क'+मन (बाह्य जगत) और 'ख'+मन (अन्तर्गत) के रूप में निर्देश किया जा सकता है हम आगे देखेंगे, अद्वैतवादियों का सिद्धान्त किस प्रकार गणित के समान प्रमाणित किया जा सकता है।

'क' और 'ख' केवल बीजगणित की अज्ञात संख्या मात्र हैं हमने देखा है, सब ज्ञान ही यौगिक है—बाह्यजगत अथवा ब्रह्माण्ड का ज्ञान भी यौगिक है एवं बुद्धि अथवा अहंज्ञान भी उसी प्रकार एक यौगिक व्यापार है। यदि वह भीतर का ज्ञान अथवा मानसिक अनुभूति हो, तो वह 'ख'+मन, और यदि वह बाहर के ज्ञान अथवा विषय की अनुभूति हो तो वह 'क'+मन है।

भीतर का समस्त ज्ञान 'ख' के सहित मन के संयोग से उपलब्ध और बाहर के जड़ पदार्थ का समग्र ज्ञान 'क' के सहित मन के संयोग का फल है। पहले हमने भीतर का व्यापार ग्रहण किया। हम प्रकृति में जो ज्ञान देख पाते हैं, वह सम्पूर्ण रूप से

सांख्य और अद्वैत

प्राकृतिक हो नहीं सकता, क्योंकि, ज्ञान—‘ख’ और मन के संयोग से उपलब्ध है और यह ‘ख’ आत्मा से आ रहा है। अतएव हम जिस ज्ञान से परिचित हैं, वह आत्मचैतन्य की शक्ति के सहित प्रकृति के संयोग का फल है। इसी प्रकार बाहर की सत्ता जिसे हम जानते हैं, वह भी अवश्य मन के सहित ‘क’ के संयोग से उत्पन्न है। अतएव हम देख रहे हैं, हम हैं, हम जान रहे हैं, और हम सुखी हैं (अर्थात् समय समय में हमारे मन में भाव आता है कि हमें कोई अभाव नहीं है), इन्हीं तीन तत्वों में हमारे जीवन का केन्द्रगत भाव है, हमारे जीवन की महान भित्ति प्रतिष्ठित है, और यह केन्द्र अथवा भित्ति भीमाविशिष्ट होकर दूसरी वस्तु के संयोग से यौगिक भाव धारण करने पर हम उसे सुख अथवा दुःख के नाम से अभिहित करते हैं। ये तीन तत्व ही व्यवहारिक सत्ता, व्यवहारिक ज्ञान और व्यवहारिक आनन्द अथवा प्रेम के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति का ही अस्तित्व है, प्रत्येक को ही जानना होगा एवं प्रत्येक व्यक्ति ही आनन्द के लिए हुआ है। इसे अतिक्रम करने की शक्ति उसमें नहीं है। समग्र जगत् ही इसी प्रकार है। पशुगण और उद्भिद्गण, अत्यन्त निम्नतम से लेकर अत्यन्त उच्चतम सत्ता तक सभी प्रेम करते हैं। चाहे आप उसे प्रेम न कहें, किन्तु वे सब अवश्य ही जगत् में रहेंगे, सब को ही जानना होगा, सब को ही प्रेम करना होगा। अतएव यह, जिस सत्ता को हम जान रहे हैं, वह पूर्वोक्त ‘क’ और मन का संयोगफल है और हमारा ज्ञान भी उसी भीतर के ‘ख’ और मन

धर्मविज्ञान

का संयोगफल है और प्रेम भी उसी 'ख' और मन का संयोगफल है। अतएव ये जो तीन वस्तुएँ अथवा तत्व भीतर से आकर बाहर की वस्तु के सहित मिश्रित होकर व्यवहारिक सत्ता, व्यवहारिक ज्ञान और व्यवहारिक प्रेम की सृष्टि कर रहे हैं, उन्हें ही वेदान्तीगण निरपेक्ष अथवा पारमार्थिक ज्ञान और पारमार्थिक आनन्द कहा करते हैं।

यह पारमार्थिक सत्ता, जो असीम, अमिश्र, अयौगिक है, जिसका कोई परिणाम नहीं है, यही वह मुक्त आत्मा है, और जब वह प्रकृत सत्ता प्राकृतिक वस्तु के सहित मिश्रित होकर मानो मलिन हो जाती है, उसे ही हम मानव के नाम से अभिहित करते हैं। वह सीमाबद्ध होकर पशुजीवन, पशुजीवन, मानवजीवन के रूप में प्रकाशित होती है। जैसे अनन्त देश इस घर की दीवाल अथवा और किसी प्रकार के घेरे द्वारा आपाततः सीमाबद्ध बोध हों। इस पारमार्थिक ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान नहीं है जिसको विषय में हम जानते हैं,— उसका अर्थ बुद्धि विचारशक्ति या सहजात ज्ञान कुछ भी नहीं है, उसका अर्थ वही वस्तु है जो विभिन्न आकारों में प्रकाशित होने पर हम उन्हें इन सब विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। जब वह निरपेक्ष अथवा पूर्ण ज्ञान सीमाबद्ध होता है, तब हम उसे दिव्य अथवा प्रातिभज्ञान कहते हैं, जब और अधिक सीमाबद्ध होता है, तब उसे युक्तिविचार, सहजात ज्ञान इत्यादि नाम दे देते हैं। उसी निरपेक्ष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। उसे सर्वज्ञता कहने पर उसका भाव बहुत कुछ

प्रकाशित हो सकता है। वह किसी प्रकार का यौगिक पदार्थ नहीं है। वह आत्मा का स्वभाव है। जब वह निरपेक्ष प्रेम सीमाबद्ध भाव धारण करता है, तब ही उसे हम प्रेम कहते हैं—जो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर अथवा भावसमूह के प्रति आकर्षण स्वरूप है। ये सब उसी आनन्द के विकृत प्रकाश मात्र हैं और वह आनन्द आत्मा का गुणविशेष नहीं है, वह आत्मा का स्वरूप है—उसकी आभ्यन्तरिक प्रकृति है। निरपेक्ष सत्ता, निरपेक्ष ज्ञान और निरपेक्ष आनन्द आत्मा का गुण नहीं है, वे सब आत्मा के स्वरूप हैं, उन से आत्मा का कोई प्रभेद नहीं है। तथा ये तीनों एक ही वस्तु हैं। हम एक वस्तु को तीन विभिन्न भावों से केवल देखा करते हैं। वे सब साधारण ज्ञान के अतीत हैं, तथा उनके प्रतिबिम्ब में ही प्रकृति चैतन्यवान् प्रतीत होती है।

आत्मा का वह नित्य निरपेक्ष ज्ञान ही मानव-मन के भीतर से आकर हमारा विचार, हमारी युक्ति बुद्धि बना है। जिस उपाधि अथवा मध्यवर्ती के द्वारा वह प्रकाशित होता है, उसकी विभिन्नता के अनुसार इसकी विभिन्नता होती है। आत्मा के हिसाब से हममें और अत्यन्त सूक्ष्मतर प्राणी में कोई प्रभेद नहीं है, केवल सूक्ष्मतर प्राणी का मस्तिष्क ज्ञान-प्रकाश के पक्ष में अपेक्षाकृत अनुपयोगी यन्त्र है, इसीलिए उसके ज्ञान को हम सहजात ज्ञान कहते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर और ज्ञान-प्रकाश के लिए उपयोगी है, इसीलिए उसके पक्ष में ज्ञान का प्रकाश स्पष्टतर है, तथा उच्चतर

धर्मविज्ञान

मानव में वह कौंच के एक खण्ड के समान सम्पूर्ण स्वच्छ हो गया है । अस्तित्व अथवा सत्ता के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है; हमारा जिस अस्तित्व से परिचय है, यह सीमाबद्ध क्षुद्र अस्तित्व उस निरपेक्ष सत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र है, तथा दोनों स्वरूपतः सम्पूर्ण अभिन्न हैं । आनन्द के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है, जिसे हम प्रेम अथवा आकर्षण कहते हैं, वह उसी आत्मा के निर्य आनन्द का प्रतिबिम्ब स्वरूप है, क्योंकि, जैसे व्यक्तमात्र अथवा प्रकाश होता है, वैसे ही ससीमता आ जाती है, किन्तु आत्मा की वह अव्यक्त स्वाभाविक, स्वरूपगत सत्ता असीम और अनन्त है, उस आनन्द की सीमा नहीं है । किन्तु मानवीय प्रेम में सीमा है । मैंने आज आपसे प्रेम किया, उसके दूसरे दिन ही फिर मैं आपसे प्रेम नहीं कर पाता । एक दिन हमारा प्रेम बढ़ उठा, उसके दूसरे दिन फिर कम हो गया, क्योंकि वह एक सीमाबद्ध प्रकाश मात्र है । अतएव कपिल के मन के विरुद्ध यह पहली बात हमने पाई कि, उन्होंने आत्मा की निर्गुण, अरूप, निष्क्रिय पदार्थ के रूप में कल्पना की है, किन्तु वेदान्त उपदेश देता है कि, वह सकल सत्ता, ज्ञान और आनन्द का सारस्वरूप है, हम जितने प्रकार के ज्ञान के सम्बन्ध में जानते हैं, वह उसकी अपेक्षा अनन्त गुणा श्रेष्ठतर है, हम मानवीय प्रेम अथवा अनन्त की जितनी दूर तक कल्पना कर सकते हैं, वह उसकी अपेक्षा अनन्त गुना अधिक आनन्दमय है, तथा वह अनन्त सत्तावान् है । आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती । आत्मा के सम्बन्ध में जन्म-मरण की बात सोच ही नहीं सकते, क्योंकि वह अनन्त सत्ता-स्वरूप है ।

कपिल से हमारा दूसरे विषय में विवाद है—उनकी ईश्वर के विषय की धारणा के सम्बन्ध में। जैसे व्यष्टि बुद्धि से आरम्भ करके व्यष्टि शरीर तक इस प्राकृतिक सान्त प्रकाशश्रेणी के पश्चात् उनके नियन्ता और शास्ता स्वरूप आत्मा को स्वीकार करने का प्रयोजन है, उसी प्रकार समष्टि में भी—बृहत् ब्रह्माण्ड में भी—समष्टि बुद्धि, समष्टि मन, समष्टि सूक्ष्म और स्थूल जड़ के पश्चात् उनके नियन्ता और शास्ता के स्वरूप में कौन है, हम उनसे यही बात पूछेंगे। इस समष्टि बुद्ध्यादि श्रेणी के पश्चात् उसके नियन्ता और शास्तास्वरूप एक सर्वव्यापी आत्मा को स्वीकार न करने पर वह श्रेणी सम्पूर्ण किस प्रकार होगी? यदि हम, सकल ब्रह्माण्ड के एक शास्ता हैं, यह बात अस्वीकार करें, तो उस क्षुद्रतर श्रेणी के पश्चात् भी एक आत्मा है, यह भी हमें अस्वीकार करना होगा, क्योंकि, समग्र ब्रह्माण्ड एक ही निर्माण-प्रणाली की पौनःपुनिकता मात्र है। हम मिट्टी के एक ढेले को जान सकने पर समस्त मिट्टी का स्वरूप जान सकेंगे। यदि हम एक मानव का विश्लेषण कर सकें, तो समग्र जगत का विश्लेषण हमने कर लिया; क्योंकि वे सब एक ही नियम से निर्मित हैं। अतएव यदि यह सत्य हो कि, इस व्यष्टि श्रेणी के पश्चात् ऐसे एक व्यक्ति विद्यमान हैं, जो सकल प्रकृति से अतीत हैं, जो किसी प्रकार के उपादान से निर्मित नहीं हैं अर्थात् पुरुष—तो यह एक ही युक्ति समष्टि ब्रह्माण्ड पर भी लागू होगी तथा उसके पश्चात् भी एक चैतन्य स्वीकार करने का प्रयोजन होगा। जो सर्वव्यापी चैतन्य प्रकृति के सकल विकारों के पश्चात् भाग में विद्यमान है, उसे वेदान्त सकल के नियन्ता ईश्वर कहते हैं।

धर्मविज्ञान

अब पूर्वोक्त दो विषयों की अपेक्षा गुरुतर विषय को लेकर सांख्य से हमें विवाद करना होगा। वेदान्त का मत यह है कि, आत्मा केवल एक रह सकती है। हम विवाद के प्रारम्भ में ही सांख्य का मत लेकर—जिस कारण आत्मा अन्य किसी वस्तु के द्वारा गठित नहीं है, उसी कारण प्रत्येक आत्मा अवश्य ही सर्वव्यापी होगी, यह प्रमाणित करके—उसे एक अच्छा धक्का दे सकने हैं। जो कोई वस्तु सीमाबद्ध है, वह अन्य कुछ के द्वारा सीमाबद्ध है। यह टेबुल विद्यमान है—इसका अस्तित्व अनेक वस्तुओं के द्वारा सीमाबद्ध है, तथा सीमाबद्ध वस्तु कहने पर ही पहले से ऐसी एक वस्तु की कल्पना करनी होती है, जिसने उसे सीमाबद्ध किया है। यदि हम 'देश' के सम्बन्ध में चिन्ता अथवा विचार करना चाहें, तो हमें उसका एक क्षुद्र वृत्त के रूप में विचार करना होता है, किन्तु उसके भी बाहरी भाग में और भी 'देश' विद्यमान हैं। हम अन्य किसी उपाय से सीमाबद्ध देश के विषय में कल्पना कर नहीं सकते। उसे केवल अनन्त के भीतर से ही समझा और अनुभव किया जा सकता है। ससीम को अनुभव करने का प्रयोजन होने पर सब कहीं हमें असीम की उपलब्धि करनी होती है। या तो दोनों को ही स्वीकार करना होता है, अन्यथा किसी को ही स्वीकार करने से काम नहीं चलता। जब आप काल के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब आपको निर्दिष्ट एक काल के अतीत काल के सम्बन्ध में भी विचार करना होता है। उनमें से एक सीमाबद्ध काल है, तथा जो बृहत्तर है वह असीम काल है। ज्यों ही

आप असीम को अनुभव करने का यत्न कीजियेगा, ल्यों ही देखियेगा, उसे असीम से अलग करना असम्भव है । यदि ऐसा ही हो, तो हम इसके द्वारा ही प्रमाणित करेंगे कि यह आत्मा असीम और सर्वव्यापी है । अब एक गम्भीर समस्या आ रही है । सर्वव्यापी और अनन्त पदार्थ क्या दो हो सकते हैं ? मान लीजिये, असीम वस्तु दो हुई—तो फिर उनमें से एक दूसरे को सीमाबद्ध करेगी । मान लीजिये, 'क' और 'ख' दो अनन्त वस्तुएँ विद्यमान हैं । ऐसा होने पर अनन्त 'क' अनन्त 'ख' को सीमाबद्ध करेगा । कारण, आप यह कह सकते हैं कि, अनन्त 'क' अनन्त 'ख' नहीं है, तथा अनन्त 'ख' के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि, वह अनन्त 'क' नहीं है । अतएव अनन्त एक ही रह सकता है । द्वितीयतः अनन्त का भाग नहीं हो सकता । अनन्त के चाहे जितने भाग क्यों न किये जायें, तथापि वह अनन्त ही होगा, क्योंकि, उसे निज से पृथक् किया जा नहीं सकता । मान लीजिये, एक अनन्त समुद्र है, उससे क्या आप एक बिन्दु भी पानी ले सकते हैं ? यदि ले सकते होते, तो समुद्र फिर अनन्त न रहता, वह एक बूँद पानी ही उसे सीमाबद्ध करता । अनन्त का किसी उपाय से भाग किया नहीं जा सकता ।

किन्तु आत्मा एक है, उसका इसकी अपेक्षा भी प्रबलतर प्रमाण है । केवल यही नहीं, समग्र ब्रह्माण्ड एक अखण्ड सत्ता है—यह भी प्रमाणित किया जा सकता है । और एक बार पूर्व-

धर्मविज्ञान

कथित 'क' 'ख' नामक अज्ञात वस्तु के सूचक चिन्हों की सहायता ग्रहण करेंगे। हमने पहले ही देखा है, जिसे हम बहिर्जगत कहते हैं, वह 'क'+मन है, तथा अन्तर्जगत 'ख'+मन है। 'क' और 'ख' ये दोनों ही अज्ञातसंख्यावाचक हैं—दोनों ही अज्ञात और अज्ञेय हैं। अब मन क्या है, यह देखा जाय। मन देशकालनिमित्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—वे ही मन के स्वरूप हैं। आप काल परित्याग करके कदापि विचार नहीं कर सकते, देश को छोड़ कर किसी वस्तु की धारणा नहीं कर सकते, एवं निमित्त अथवा कार्य-कारण का सम्बन्ध छोड़ कर किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते। पूर्वोक्त 'क' और 'ख' इन्हीं तीनों साँचों में पड़ कर मन के द्वारा सीमाबद्ध हो रहे हैं। इन सब के अतिरिक्त मन का स्वरूप और कुछ भी नहीं है। अब इन तीन साँचों को, जिनका स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है, उन्हें, उठा लीजिये। क्या शेष बचता है? तब सब ही एक हो जाता है। 'क' और 'ख' प्रतीत होता है मानो एक हैं। केवल इस मन, इस साँचे ने ही उन्हें आभासदृष्टि से सीमाबद्ध किया था तथा उन्हें अन्तर्जगत और बाह्यजगत इन दो रूपों में भिन्न किया था। 'क' और 'ख' दोनों ही अज्ञात और अज्ञेय हैं। हम उन पर किसी गुण का आरोप नहीं कर पाते। अतएव गुण अथवा विशेषण रहित होने के कारण वे दोनों ही एक हैं। जो गुणरहित और निरपेक्ष पूर्ण है, वह अवश्य ही एक होगा। निरपेक्ष पूर्ण वस्तु दो हो नहीं सकती। जहाँ कोई गुण नहीं है, वहाँ केवल एक वस्तु ही रह

सांख्य और अद्वैत

सकती है। 'क' और 'ख' दोनों ही निर्गुण हैं, क्योंकि, वे केवल मन से ही गुण पा रहे हैं। अतएव ये 'क' और 'ख' एक हैं।

समग्र ब्रह्माण्ड एक सत्तामात्र है। जगत में केवल एक आत्मा है, एक सत्ता है; और वही एक सत्ता जब देशकालनिमित्त के साँचे में पड़ती है, त्यों ही उसे बुद्धि, अहंज्ञान, सूक्ष्म भूत, स्थूल भूत, आदि की आख्या दी जाती है। सकल भौतिक और मानसिक आकार अथवा रूप, जो कुछ इस जगतब्रह्माण्ड में है, वह वही एक वस्तु है—केवल विभिन्न रूप में प्रतिभात मात्र हो रही है। जब उनका कुछ अंश इस देश-काल-निमित्त के जाल में पड़ता है, तब वह आकार ग्रहण करता है, ऐसा बोध होता है—उस जाल को हटा कर देखिये, सब ही एक है। यह समग्र जगत एक अखण्ड स्वरूप है, और उसे ही अद्वैत-वेदान्त दर्शन में ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म जब ब्रह्माण्ड के पश्चात् प्रदेश में है ऐसा लगता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। जब वह इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड के पश्चात् प्रदेश में है ऐसा लगता है तब उसे आत्मा कहते हैं। अतएव यह आत्मा ही मानव का अभ्यन्तरस्थ ईश्वर है। एक केवल पुरुष हैं—उन्हें ईश्वर कहते हैं, तथा जब ईश्वर और मानव दोनों के स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है, तब दोनों को एक के रूप में जाना जाता है। यह ब्रह्माण्ड आप स्वयं हैं, अविभक्त आप इस समग्र जगत के मध्य विद्यमान हैं। “सकल हाथों से आप काम कर रहे हैं, सकल मुखों

धर्मविज्ञान

से आप खा रहें है, सकल नासिकाओं से आप श्वास-प्रश्वास ले रहे है, सकल मन से आप चिन्ता अथवा विचार कर रहे हैं।”^१ समग्र जगत ही आप हैं। यह ब्रह्माण्ड आपका शरीर है। आप ही व्यक्त और अव्यक्त जगत दोनों ही हैं; आप ही जगत की आत्मा हैं तथा आप ही उसका शरीर भी हैं। आप ही ईश्वर हैं, आप ही देवता हैं, आप ही मनुष्य हैं, आप ही पशु हैं, आप ही उद्भिद् हैं, आप ही खनिज हैं, आप ही सब हैं—समग्र व्यक्त जगत ही आप हैं। जो कुल है, सब आप हैं, यथार्थ ‘आप’—वह एक अविभक्त आत्मा;—जिस क्षुद्र सीमावद्ध व्यक्तिविशेष को आप ‘आप’ समझते हैं वह नहीं।

अब यह प्रश्न उठ रहा है आप अनन्त पुरुष हो कर किस प्रकार इस तरह खण्ड खण्ड हुए, अमुक राम श्याम हरि, पशु, पक्षी और अन्यान्य वस्तु हुए। इसका उत्तर यह है, यह समग्र विभाग जगत् अंशमात्र है। हम जानते हैं अनन्त का कदापि विभाग हो नहीं सकता। अतएव आप एक अंशमात्र हैं यह बात मिथ्या है, वह कभी सत्य हो नहीं सकती। तथा आप जो अमुक राम श्याम हरि हैं यह बात भी किसी काल सत्य नहीं है, वह केवल स्वप्न-मात्र है। यही जान कर मुक्त होइये। यही अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है।

“हम मन भी नहीं हैं, इन्द्रिय भी नहीं हैं, देह भी नहीं हैं,—

१—गीता, १३ वाँ अध्याय देखिये।

सांख्य और अद्वैत

हम अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। हम ही वे हैं, हम ही वे हैं।”^१

यही ज्ञान है एवं इसके अतिरिक्त और जो कुछ है सब ही अज्ञान है। जो कुछ है, समग्र ही अज्ञान है, अज्ञान का फल स्वरूप। हम तब कौन सा ज्ञान लाभ करेंगे? हम स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। हम और कौनसे जीवन का लाभ करेंगे? हम स्वयं प्राणस्वरूप हैं। जीवन हमारे स्वरूप का गौण विकास मात्र है। हम निश्चित रूप से जानते हैं कि, हम जीवित हैं उसका कारण है। हम ही जीवनस्वरूप हैं, वही एक पुरुष हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमारे द्वारा प्रकाशित नहीं है, जो हममें नहीं है एवं जो हमारे स्वरूप में अवस्थित नहीं है। हम ही भूतसमूह के रूप में प्रकाशित हुए हैं। किन्तु हम एक हैं, मुक्तस्वरूप। कौन मुक्ति चाहता है? कोई भी मुक्ति नहीं चाहता। यदि आप अपने को बद्ध के रूप में सोचें तो आप बद्ध ही रहेंगे; आप स्वतः ही अपने बन्धन के कारण होंगे। तथा यदि आप उपलब्धि करें कि, आप मुक्त हैं, तो इसी मुहूर्त आप मुक्त हैं। यही ज्ञान है—मुक्तिप्रद ज्ञान, तथा समग्र प्रकृति का चरम लक्ष्य ही मुक्ति है।

१—मनोऽबुद्धयहङ्कारचित्तानि नाहं

न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।

न च व्योमभूमी न तेजो न वायु

श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

निर्वाण-षट्क, १

चौथा अध्याय

आत्मा का मुक्त स्वभाव

हमने देखा है, सांख्य का विश्लेषण द्वैतवाद में पर्यवसित है; उसका सिद्धान्त यह है कि चरम तत्व—प्रकृति और आत्मा-समूह है। आत्मा की संख्या अनन्त है, तथा जिस कारण आत्मा अमिश्र पदार्थ है, उसी कारण उसका विनाश नहीं है, इसलिए वह प्रकृति से अवश्य ही स्वतन्त्र है। प्रकृति का परिणाम होता है तथा वह यह समग्र प्रपञ्च प्रकाशित करती है। सांख्य के मत के अनुसार आत्मा निष्क्रिय है। वह अमिश्र है, तथा प्रकृति आत्मा के अपवर्ग अथवा उसकी मुक्ति साधित करने के लिए ही इस समग्र प्रपञ्चजाल का विस्तार करती है, तथा आत्मा जब समझ पाती है कि, वह प्रकृति नहीं है, तब ही उसकी मुक्ति होती है। दूसरी ओर यह भी हमने देखा है कि, सांख्यवादियों को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा था कि, प्रत्येक आत्मा ही सर्वव्यापी है। आत्मा जब अमिश्र पदार्थ है, तब वह ससीम हो नहीं सकती; क्योंकि समग्र सीमाबद्ध भाव देश काल अथवा निमित्त के द्वारा बना होता है। आत्मा जब सम्पूर्ण रूप से इन सब से अतीत है, तब उसमें ससीम भाव कुछ रह नहीं सकता। ससीम होने पर उसे देश के भीतर रहना होगा, और इसका अर्थ है, उसकी एक देह अवश्य

आत्मा का मुक्त स्वभाव

ही रहेगी, तथा जिसकी देह है, वह अवश्य प्रकृति के अन्तर्गत है। यदि आत्मा का आकार होता तब तो आत्मा प्रकृति से अभिन्न होती। अतएव आत्मा निराकार है; तथा जो निराकार है, वह यहाँ, वहाँ अथवा और कहीं है, यह नहीं कहा जाता। वह अवश्य ही सर्व-व्यापी होगा। सांख्यदर्शन इससे आगे और अधिक नहीं गया।

सांख्यवादियों के इस मत के विरुद्ध वेदान्तवादियों की प्रथम आपत्ति यह है कि, सांख्य का यह विश्लेषण सम्पूर्ण नहीं है। यदि प्रकृति एक अमिश्र वस्तु हो एवं आत्मा भी यदि अमिश्र वस्तु हो, तो दो अमिश्र वस्तुएँ हुईं और जिन सब युक्तियों से आत्मा का सर्वव्यापी होना प्रमाणित हो, वे युक्तियाँ प्रकृति के पक्ष में भी प्रयुक्त हो सकेंगी, इसलिये वह भी समग्र देश-काल-निमित्त के अतीत होगी। प्रकृति यदि इस प्रकार की ही हो, तो उसका किसी प्रकार का परिणाम अथवा विकास नहीं होगा। इससे निष्कर्ष निकला कि, दो अमिश्र अथवा पूर्ण वस्तुएँ स्वीकार करनी होती हैं और यह असम्भव है। वेदान्तीगण का इस सम्बन्ध में कौन सा सिद्धान्त है? उनका सिद्धान्त यह है कि, स्थूल जड़ से महत् अथवा बुद्धितत्त्व तक प्रकृति का समग्र विकार जब अचेतन है, तब जिससे मन चिन्ता कर सके एवं प्रकृति काम कर सके, उसके लिए उनके पश्चात् उनके परिचालक शक्तिस्वरूप एक चैतन्यवान् पुरुष का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। वेदान्ती कहते हैं, समग्र ब्रह्माण्ड के पश्चात् ये चैतन्यवान् पुरुष विद्यमान हैं, उन्हें ही

धर्मविज्ञान

हम ईश्वर कहते हैं, इसलिए यह जगत उनसे पृथक् नहीं है। वे जगत के केवल निमित्त कारण ही नहीं हैं, वरन् उपादान कारण भी हैं। कार्य कारण का ही रूपान्तर मात्र है। यह तो हम प्रति दिन ही देख रहे हैं। अतएव ये ही प्रकृति के कारणस्वरूप हैं। द्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा अद्वैत—वेदान्त के जितने विभिन्न रूप अथवा विभाग हैं, सब का, यही प्रथम सिद्धान्त है कि, ईश्वर इस जगत के केवल निमित्त कारण नहीं हैं, वे उसके उपादान कारण भी हैं, जो कुछ जगत में है, सब ही वे हैं। वेदान्त की दूसरी सीढ़ी यह है कि, ये जो आत्मागण हैं, ये भी ईश्वर के अंशस्वरूप हैं, उसी अनन्त वह्निके एक एक स्फुलिङ्ग मात्र अर्थात् जैसे एक बृहत् अग्निराशि से सहस्र सहस्र अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार उस पुरातन पुरुष से ये सब आत्माएँ बहिर्गत हुई हैं।*

यहाँ तक तो ठीक हुआ, किन्तु तथापि इस सिद्धान्त से भी तृप्ति नहीं हो रही है। अनन्त का अंश—इन शब्दों का अर्थ क्या है। अनन्त जो है वह तो अविभाज्य है। अनन्त का कदापि अंश हो नहीं सकता। पूर्ण वस्तु कदापि विभक्त हो नहीं सकती। तो फिर यह जो कहा गया, आत्मागमूः उनसे स्फुलिङ्ग के समान निकले हैं—इन शब्दों का तात्पर्य क्या है? अद्वैत-वेदान्ती इस

*यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः

प्रभवन्ते सरूपाः ।

तथाक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।

—मुण्डकोपनिषद्, २/१/१

समस्या की इस प्रकार मीमांसा करते हैं कि, वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं है। वे कहते हैं, प्रत्येक आत्मा वास्तव में उनका अंश नहीं है। प्रत्येक ही वास्तव में वही अनन्त ब्रह्मस्वरूप है। तब इतनी आत्माएँ किस प्रकार आईं? लाख लाख जलकणों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ कर लाख लाख सूर्य के समान दिखाई पड़ रहा है तथा प्रत्येक जलकण में ही क्षुद्र आकार में सूर्य की मूर्ति विद्यमान है। इसी प्रकार ये सब आत्माएँ प्रतिबिम्बरूप हैं, सत्य नहीं हैं। वे वास्तव में यही 'हम' नहीं हैं, जो इस जगत के ईश्वर हैं, ब्रह्माण्ड के अविभक्त सत्तास्वरूप। अतएव ये सब विभिन्न प्राणी, मनुष्य, पशु इत्यादि ये सब प्रतिबिम्बस्वरूप हैं, सत्य नहीं हैं। वे प्रकृति के ऊपर पतित मायामय प्रतिबिम्बमात्र हैं। जगत में एकमात्र अनन्त पुरुष हैं तथा वे पुरुष, 'आप', 'हम' इत्यादि रूप में प्रतीयमान हो रहे हैं, किन्तु यह भेद-प्रतीति मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वे विभक्त नहीं होते, विभक्त हुए हैं ऐसा बोध मात्र होना है। तथा उन्हें देश—काल—निमित्त के जाल के भीतर से देखने के कारण ही यह अज्ञान-प्रतीयमान विभाग अथवा भेद हुआ है। हम जब ईश्वर को देश—काल—निमित्त के जाल के भीतर से देखते हैं, तब हम उन्हें जड़ अथवा जगत के समान देखते हैं—जब और कुछ उच्चतर भूमि से, साथ ही उसी जाल के भीतर से ही उन्हें देखते हैं, तब उन्हें पशु के रूप में—और कुछ उच्चतर भूमि से मनुष्य के रूप में—और ऊँचे ज्ञान पर देव के रूप में देखा करते हैं। किन्तु तथापि वे जगतब्रह्माण्ड की

धर्मविज्ञान

एक अनन्त सत्ता है एवं हम ही वही सत्तास्वरूप हैं। हम ही वह हैं, आप भी वह हैं—उनका अंश नहीं, समग्र ही। “वे अनन्त ज्ञातारूप में समग्र प्रपञ्च के पश्चात् खड़े हैं, तथा वे स्वयं समग्र प्रपञ्चस्वरूप हैं।” वे विषय, विषयी—दोनों ही हैं। वे ‘हम’, वे ही ‘आप’ हैं। यह किस प्रकार हुआ?

यह विषय निम्नलिखित भाव से समझाया जा सकता है। ज्ञाता को किस प्रकार जाना जायेगा? * ज्ञाता कदापि निज को जान नहीं सकता। हम सब कुछ देख पाते हैं, किन्तु अपने को देख नहीं पाते। वही आत्मा—जो ज्ञाता और सब का प्रभु है, जो प्रकृत वस्तु है—वह ही जगत की समग्र दृष्टि का कारण है, किन्तु उसके पक्ष में प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त अपने को देखना अथवा अपने को जानना असम्भव है। आप आरसी अथवा दर्पण के अतिरिक्त अपना मुँह देख नहीं पाते। उस प्रकार ही आत्मा भी प्रतिबिम्बित हुए बिना अपना स्वरूप देख नहीं पाती। इसलिए यह समग्र ब्रह्माण्ड ही आत्मा का निज की उपलब्धि का यत्न स्वरूप है। प्राणपङ्क (Protoplasm) में उनका प्रथम प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है, उसके पश्चात् उद्भिद्, पशु आदि उत्कृष्ट उत्कृष्टतर प्रतिबिम्बग्राहक से सर्वोत्तम प्रतिबिम्बग्राहक, पूर्ण मानव का प्रकाश होता है। जैसे कोई मनुष्य अपना मुँह देखने की इच्छा

*विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।

—बृहदारण्यक उपनिषद्, ५/१५

आत्मा का मुक्त स्वभाव

करके एक क्षुद्र बीचड़ से युक्त जलाशय में देखने का यत्न करके मुँह का एक ऊपर ऊपर का आकार देख सका। उसके पश्चात् उसने कुछ अधिक निर्मल जल में कुछ अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देखा, उसके पश्चात् उज्ज्वल धातु में उसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब देखा। अन्त में एक आरसी ले कर उसमें देखा—तब वह स्वतः ठीक जैसा है, ठीक वैसा ही अपने को प्रतिबिम्बित देखा। अतएव विषय और विषयी उभयस्वरूप उसी पुरुष का सर्वश्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है—‘पूर्ण मानव’। आप अब देख पाइयेगा, मानव स्वभाववश ही क्यों सब वस्तुओं की उपासना किया करता है, तथा सब देश में ही पूर्ण-मानवगण क्यों स्वभावतः ईश्वर के रूप में पूजित हुआ करते हैं। आप मुँह से जो भी क्यों न कहिये, इनकी उपासना अवश्य ही करनी होगी। इसीलिए लोग ईसा मसीह अथवा बुद्ध आदि अवतारगण की उपासना किया करते हैं। वे अनन्त आत्मा के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशस्वरूप हैं। आप हम ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे जो धारणा क्यों न करें, ये उसकी अपेक्षा उच्चतर हैं। एक पूर्ण-मानव इन सब धारणाओं की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। उसमें ही जगतरूप वृत्त सम्पूर्ण होता है—विषय और विषयी एक हो जाते हैं। उसका सब भ्रम और मोह चला जाता है। इनके स्थान पर उसे यह अनुभूति होती है कि, वह चिरकाल से ही वही पूर्ण पुरुष के रूप में विद्यमान है। तो फिर यह बन्धन किस प्रकार आया ? इस पूर्ण पुरुष के पक्ष में अवनत हो कर अपूर्ण-स्वभाव होना किस प्रकार सम्भव हुआ ? मुक्त के पक्ष में बद्ध होना किस प्रकार

धर्मविज्ञान

सम्भव हुआ ? अद्वैतवादी कहते हैं, वह किसी काल में बद्ध नहीं होता, वह नित्य मुक्त है। आकाश में नाना वर्ण के नाना मेघ आ रहे हैं। वे मुहूर्त भर वहाँ ठहर कर चले जा रहे हैं। किन्तु वह एक नील आकाश बराबर समान भाव से विद्यमान है। आकाश का कदापि परिवर्तन नहीं होता, मेघ का परिवर्तन हो रहा है। इसी प्रकार आप सब भी पहले से ही पूर्णस्वभाव हैं, अनन्त काल से पूर्ण हैं। कुछ भी कदापि आपकी प्रकृति को परिवर्तित कर नहीं सकता, कभी करेगा भी नहीं। यह जो सब धारणा है, कि—हम अपूर्ण हैं, हम नर हैं, हम नारी हैं, हम पापी हैं, हम मन हैं, हमने चिन्ता की है, और भी चिन्ता करेंगे—यह सब भ्रम मात्र है। आप कदापि चिन्ता नहीं करते, आपकी किसी काल में देह नहीं थी, आप किसी काल में अपूर्ण नहीं थे। आप इस ब्रह्माण्ड के आनन्दमय प्रभु हैं। जो कुछ है या होगा, आप उस सब के सर्वशक्तिमान् नियन्ता हैं—इस सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथिवी, उद्भिद्, इस हमारे जगत के प्रत्येक अंश के—महान शास्ता हैं। आपकी ही शक्ति से सूर्य किरण दे रहा है, तारागण अपनी प्रभा विकीर्ण कर रहे हैं, पृथिवी सुन्दर हुई है। आपके आनन्द की शक्ति से ही सब परस्पर परस्पर से प्रेम कर रहे हैं और परस्पर के प्रति आकर्षित हो रहे हैं। आप ही सब के मध्य विद्यमान हैं, आप ही सर्वस्वरूप हैं। किसे त्याग कीजियेगा, किसको ही अथवा ग्रहण कीजियेगा ?—आप ही समग्र हैं ! जब इस ज्ञान का उदय होता है, तब मायामोह उसी क्षण उड़ जाता है।

हम एक बार भारत की मरुभूमि में भ्रमण कर रहे थे। हमने एक महीने से अधिक भ्रमण किया था, और प्रतिदिन ही हम अपने सम्मुख अतिशय मनोरम दृश्यसमूह—अनि सुन्दर सुन्दर वृक्ष सरोवर आदि—देखने को पाते थे। एक दिन हमने अत्यन्त प्यास से विह्वल होकर एक सरोवर में जलपान करेंगे, यह इच्छा की। किन्तु ज्यों ही हम सरोवर की ओर अग्रसर हुए, त्यों ही वह अन्तर्हित हो गया। उसी क्षण हमारे मस्तिष्क में मानो प्रचल आघात के सहित यह ज्ञान आया कि सारा जीवन हम जिस मरीचिका की कथा पढ़ते आ रहे हैं, यह वही मरीचिका है। तब हम अपने निज की यह निर्बुद्धिता स्मरण करके हँसने लगे कि, गत एक मास से लेकर हम जो ये सब सुन्दर दृश्य और सरोवर आदि देख पा रहे थे, वे मरीचिका के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, तथापि हम तब यह समझ न सके। दूसरे दिन सबेरे हम फिर चलने लगे—वही सरोवर और सब दृश्य फिर से दिखाई पड़ने लगा, किन्तु उसके साथ साथ उसी क्षण हमें यह ज्ञान भी हुआ कि वह मरीचिका मात्र है। एक बार जान सकने पर उसकी भ्रम उत्पन्न करने वाली शक्ति नष्ट हो गई थी। इसी प्रकार यह जगन्भ्रान्ति एक दिन हटेगी। यह समग्र ब्रह्माण्ड एक दिन हमारे सामने से अन्तर्हित होगा। इसका नाम ही प्रत्यक्षानुभूति है। दर्शन, केवल बात करने की बात अथवा तमाशा नहीं है। वह प्रत्यक्ष अनुभूत होगा। यह शरीर उड़ जायेगा, यह पृथिवी एवं और जो कुछ है सब ही उड़ जायेगा—हम देह अथवा हम मन हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह

धर्मविज्ञान

कुछ क्षण के लिए चला जायेगा—अथवा यदि कर्म सम्पूर्ण क्षय हो जाये, तो एकदम चला जायेगा, फिर और लौट कर नहीं आयेगा; तथा यदि कर्म का कुछ अंश शेष रहे, तो जैसा कुम्हार का चक्र है—हाँड़ी बन जाने पर भी पूर्ण वेग से कुछ क्षण घूमता रहता है, उस प्रकार माया मोह सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाने पर भी यह देह कुछ दिन रह जायेगी। यह जगत—नरनारी प्राणी—सब ही फिर आयेंगे—जैसे दूसरे दिन भी मरीचिका दिखाई पड़ी थी। किन्तु पहले के समान वे सब, शक्ति विस्तार नहीं कर सकेंगे, कारण, साथ साथ यह ज्ञान भी आयेगा कि, हमने उसका स्वरूप जान लिया है, तब वे फिर बद्ध नहीं कर सकेंगे, किसी प्रकार का दुःख कष्ट शोक फिर आ नहीं सकेगा। जब दुःखकर विषय कुछ आयेगा, मन उससे कह सकेगा कि, हम जानते हैं तुम भ्रम मात्र हो। जब मानव यह अवस्था लाभ करता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त का अर्थ है जीवित अवस्था में ही जो मुक्त है। ज्ञानयोगी के जीवन का उद्देश्य यही जीवन्मुक्त होना है। वे ही जीवन्मुक्त हैं, जो इस जगत में अनासक्त हो कर वास कर सकते हैं। वे जल के पद्म-पत्र के समान रहते हैं—वह जैसे जल में रहने पर भी जल उसे कदापि भिगा नहीं सकता, उसी प्रकार वे जगत में निर्लिप्त भाव से रहते हैं। वे मनुष्य जाति में सर्वश्रेष्ठ हैं, केवल इतना ही क्यों, सकल प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। कारण, उन्होंने उस पूर्ण पुरुष के सहित अभेद भाव उपलब्ध किया है; उन्होंने उपलब्धि की है कि, वे भगवान के सहित अभिन्न हैं। जितने दिन आपका ज्ञान

रहता है कि भगवान के सहित आपका अति सामान्य भेद भी है, उतने दिन आपका भय रहेगा। किन्तु जब जानियेगा कि आप ही वे हैं, उनमें और आपमें कोई भेद नहीं है, उनका समग्र ही आप हैं, तब—सब भय दूर हो जाता है। “वहाँ कौन किसको देखता है? कौन किसकी उपासना करता है? जहाँ एक व्यक्ति अन्य को देखता है, एक व्यक्ति अन्य से बात करता है, एक व्यक्ति अन्य की बात सुनता है, वह नियम का राज्य है। जहाँ कोई किसी को नहीं देखता, कोई किसी से बात नहीं करता, वह ही सर्वश्रेष्ठ है, वह ही भूमा है, वह ही ब्रह्म है।”* आप ही वह हैं एवं सर्वदा ही वह हैं। तब जगत का क्या होगा, हम जगत का क्या उपकार कर सकेंगे—इस प्रकार के प्रश्न ही वहाँ उदय नहीं होते। यह उस शिशु के प्रश्न के समान ही है—हमारे बड़े होने पर हमारी मिठाई का क्या होगा? बालक भी कहा करता है, हमारे बड़े होने पर हमारे मार्बेल की क्या दशा होगी, तो हम बड़े नहीं होंगे। छोटा लड़का भी कहता है, हमारे बड़े होने पर हमारे पुतले-पुतलियों की क्या दशा होगी?—इस जगत के सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रश्नावलियाँ भी उसी प्रकार है। भूत भविष्यत वर्तमान इन तीन कालों में ही जगत का अस्तित्व नहीं है। यदि हम आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान पायें, यदि हम जान पायें कि, इस आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और जो कुछ है सब स्वप्नमात्र है, उनका वास्तव में अस्तित्व नहीं है,

* छान्दोग्य और बृहदारण्यक देखिये।

धर्मविज्ञान

तो इस जगत का दुःख, दारिद्र्य, पाप-पुण्य—कुछ भी हम को चञ्चल कर नहीं सकेगा। यदि उन सब का अस्तित्व ही न रहे, तो किसके लिए और क्यों हम कष्ट करेंगे ? ज्ञानयोगीगण यही शिक्षा देने हैं। अतएव साहस का अवलम्बन करके मुक्त होइये, आपकी चिन्ताशक्ति आपको जितनी दूर तक ले जा सके, साहस-पूर्वक उतनी दूर आगे बढ़िये, एवं साहसपूर्वक उसे जीवन में परिणत कीजिये। यह ज्ञान लाभ करना बड़ा कठिन है। यह महा साहसी का कार्य है। जो सब पुतलियाँ फोड़ कर फेंक देने का साहस करता है—केवल मानसिक और कुसंस्कार रूप पुतलियाँ नहीं, इन्द्रिय के द्वारा भोग्य विषयसमूह रूप पुतलियों को भी जो फोड़ कर फेंक दे सकता है—यह उसका ही कार्य है।

यह शरीर हम नहीं हैं, इसका नाश अवश्यम्भावी है—यही तो हुआ उपदेश। किन्तु इस उपदेश की दुहाई दे कर लोग अद्भुत व्यापार किया करते हैं। एक व्यक्ति ने उठ कर कहा, “हम देह नहीं हैं, अतएव हमारे माथे की पीड़ा आराम हो जाय।” किन्तु उसके शिर की पीड़ा यदि उसकी देह में न रहे, तो फिर कहाँ है। सहस्र सहस्र शिर की पीड़ाएँ और सहस्र सहस्र देह आयें जायें—उसमें हमारा क्या है ?

“हमारा जन्म भी नहीं है, हमारी मृत्यु भी नहीं है; हमारे पिता भी नहीं हैं, माता भी नहीं हैं; हमारा शत्रु भी नहीं है, मित्र भी नहीं है; क्योंकि वे सब ही हम हैं। हम ही

अपने बन्धु हैं, हम ही अपने शत्रु हैं; हम ही अखण्ड सच्चिदानन्द हैं, हम ही वे हैं, हम ही वे हैं।”^१

यदि हम सहस्र देह में ज्वर और अन्यान्य रोग भोग करते रहें, तो और लक्ष लक्ष देह में हम स्वास्थ्य सम्भोग कर रहे हैं। यदि सहस्र सहस्र देह में हम उपवास करें, तो अन्य सहस्र देह में प्रचुर परिणाम में आहार कर रहे हैं। यदि सहस्र देह में हम दुःख भोग करते रहें, तो सहस्र देह में हम सुखभोग कर रहे हैं। कौन किसकी निन्दा करेगा ? कौन किसकी स्तुति करेगा ? किसे चाहेगा, किसे छोड़ेगा ? हम किसी को भी चाहते भी नहीं हैं, किसी को भी त्याग भी नहीं करते; कारण, हम समग्र ब्रह्माण्डस्वरूप हैं। हम ही अपनी स्तुति कर रहे हैं, हम ही अपनी निन्दा कर रहे हैं। हम निज के दोष से निज का कष्ट पा रहे हैं और हम जो सुखी हैं वह भी तिस पर अपनी निज की इच्छा से। हम स्वाधीन हैं। यही ज्ञानी का भाव है, वे महा साहसी, —अकुतोभय, निर्भीक हैं। समग्र ब्रह्माण्ड नष्ट क्यों न हो जाय, वे हँस कर बोलते हैं, उसका कभी अस्तित्व ही नहीं था, वह केवल माया और भ्रम मात्र है। इसी प्रकार वे अपनी आँखों के समक्ष जगन्मय को वास्तव में अन्तर्हित होते देखते हैं और विस्मय के सहित प्रश्न करते हैं—

१—न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः

पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः

चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

—निर्वाणषट्क, ५

धर्मविज्ञान

“यह जगत कहाँ था ? और कहाँ वह मिल गया ?” * इस ज्ञान के साधन के सम्बन्ध में आलोचना करने को प्रवृत्त होने के पहले हम और एक आशङ्का की आलोचना तथा उसके समाधान का यत्न करेंगे। अभी तक जो विचार किया गया, उसने न्यायशास्त्र की सीमा बिन्दुमात्र उल्लङ्घन नहीं की है। यदि कोई भी व्यक्ति विचार में प्रवृत्त हो, तो जब तक वह सिद्धान्त न करे कि एकमात्र सत्ता ही वर्तमान है और समग्र ही कुछ भी नहीं है, तब तक उसके ठहरने का उपाय नहीं है। युक्तिपरायण मानवजाति के पक्ष में इस सिद्धान्त का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है। किन्तु इस क्षण प्रश्न यह है, जो असीम, सदा पूर्ण, सदानन्दमय, अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, वे इन सब भ्रमों के अधीन हुए किस प्रकार ! यह प्रश्न ही जगत में सब कहीं सब समय जिज्ञासित होता आ रहा है। साधारण चलताऊ प्रकार से प्रश्न इस प्रकार किया जाता है—इस जगत में पाप किस प्रकार आया ? प्रश्न का यही चलताऊ और व्यवहारिक रूप है। तथा दूसरा उसकी अपेक्षा अधिक दार्शनिक रूप है। किन्तु दोनों एक ही हैं। नाना रूप से, नाना भाव से, नाना प्रकार से यह एक ही प्रश्न जिज्ञासित हुआ है, किन्तु निम्नतर रूप से प्रश्न करने पर उसकी ठीक भीमांसा नहीं

* क गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।

—विवेकचूड़ामणि, ४८५

होती; क्योंकि सेव, साँप और नारी की कहानी^१ में इस तत्व की कुछ भी व्याख्या नहीं हुई। ऐसी अवस्था में प्रश्न जैसा शिशुओं के पूछने योग्य है, उसका उत्तर भी उसी प्रकार है। किन्तु वेदान्त में इस प्रश्न ने अत्यन्त गुरुतर आकार धारण किया है—यह भ्रम किस प्रकार आया? तथा उत्तर भी उसके अनुसार ही गम्भीर है। उत्तर यह है कि, असम्भव प्रश्न के उत्तर की आशा मत करो। इस प्रश्न के अन्तर्गत वाक्य परस्पर विरोधी हैं, अतः प्रश्न ही असम्भव है। क्यों? पूर्णता शब्द से किसका बोध होता है। जो देश-काल-निमित्त के अतीत है, वह ही पूर्ण है। उसके पश्चात् आप जिज्ञासा कर रहे हैं, पूर्ण किस प्रकार अपूर्ण हुआ? न्यायशास्त्र के पक्ष में अनुकूल भाषा में निबद्ध करने पर प्रश्न इस प्रकार होगा, “जो वस्तु कार्य-कारण-सम्बन्ध के अतीत है, वह किस प्रकार कार्य रूप में परिणत होती है।” यहाँ तो आप ही अपने को खण्डन कर रहे हैं। आपने पहले ही मान लिया है वह कार्य-कारण-सम्बन्ध के अतीत है, उसके पश्चात् आप जिज्ञासा कर रहे हैं, किस

१—यह कहानी बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट में है, ईश्वर ने आदि नर आदम और आदि नारी इव्ह का सृजन करके उन्हें नन्दनकानन नामक सुरम्य उद्यान में स्थापित करके उस उद्यान के ज्ञानवृक्ष का फल-भोजन करने को मना कर दिया। किन्तु शैतान ने साँप का रूप धारण करके पहले इव्ह को प्रलोभित करके उसके पश्चात् आदम को उस वृक्ष का फल-भोजन करने को प्रलोभित किया। इससे ही उन्हें भले-बुरे का ज्ञान उपस्थित होकर पाप ने पहले पृथ्वी में प्रवेश किया।

धर्मविज्ञान

प्रकार वह कार्य में परिणत हुआ। कार्य-कारण-सम्बन्ध की सीमा के भीतर ही केवल प्रश्न जिज्ञासित हो सकता है। जितनी दूर तक देश-काल-निमित्त का अधिकार है, उतनी दूर तक यह प्रश्न पूछा जा सकता है। किन्तु उसके परे की वस्तु के सम्बन्ध में प्रश्न करना ही निरर्थक है, क्योंकि प्रश्न न्यायशास्त्र के विरुद्ध हो उठता है। देश-काल-निमित्त की सीमा-रेखा के भीतर किसी काल में उसका उत्तर दिया नहीं जा सकता, तथा उसके अतीत प्रदेश में जाने पर क्या उत्तर प्राप्त होगा, यह वहाँ जाने पर ही जाना जा सकता है। इसीलिए विज्ञ व्यक्ति इस प्रश्न के उत्तर के लिए विशेष व्यस्त नहीं होते। जब लोग पीड़ित होते हैं, तब 'किस प्रकार उस रोग की उत्पत्ति हुई, यह पहले जानना होगा' इस विषय में विशेष हठ न करके रोग जिससे मिट जाय उसके ही लिए प्राणपण से यत्न करते हैं।

यह प्रश्न और एक आकार में जिज्ञासित हुआ करता है। यह पहले की अपेक्षा अधिक निम्नदृष्टि की बात तो है, किन्तु इससे हमारे कर्म-जीवन के साथ अधिक सम्बन्ध है एवं इससे प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रश्न यह है—इस भ्रम का किसने प्रसव किया? कोई सत्य क्या कभी भ्रम प्रसव कर सकता है? कदापि नहीं। हम देख पाते हैं, एक भ्रम ही और एक भ्रम का प्रसव करता रहता है, वह फिर एक भ्रम प्रसव करता है, इसी प्रकार चलता रहता है। भ्रम ही चिरकाल भ्रम प्रसव किया करता है।

रोग ही रोग प्रसव करता रहता है, स्वास्थ्य कभी रोग प्रसव नहीं करता। जल और जल के तरङ्ग में कोई भेद नहीं है—कार्य, कारण का ही दूसरा एक रूप मात्र है। कार्य जब भ्रम है, तब उसका कारण भी अवश्य भ्रम होगा। यह भ्रम किसने प्रसव किया? अवश्य और एक भ्रम ने। इसी प्रकार तर्क करने पर तर्क का फिर अन्त नहीं होगा—भ्रम का फिर आदि प्राप्त नहीं होगा। अब आपका एक प्रश्न केवल शेष रहेगा कि, “भ्रम का अनादित्व स्वीकार करने पर क्या आपका अद्वैतवाद खण्डित नहीं हुआ? क्योंकि, आप जगत में दो सत्ताएँ स्वीकार कर रहे हैं—एक आप और एक वह भ्रम।” इसका उत्तर यह है कि, भ्रम को सत्ता कहा नहीं जा सकता। आप जीवन में सहस्र सहस्र स्वप्न देख रहे हैं, किन्तु वे सब आपके जीवन के अंशस्वरूप नहीं हैं। स्वप्न आता है और फिर चला जाता है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। भ्रम को एक सत्ता अथवा अस्तित्व कहने पर वह आपाततः युक्तिसंगत प्रतीत तो होता है, वास्तविक रूप में किन्तु, वह केवल एक युक्तिहीन बात है। अतएव जगत में नित्यमुक्त और नित्यानन्दस्वरूप एक मात्र सत्ता है, तथा वही आप हैं। अद्वैतवादियों का यही चरम सिद्धान्त है। इस क्षण प्रश्न किया जा सकता है, यह जो सकल विभिन्न उपासना-प्रणाली विद्यमान है, इन सब का क्या होगा? वे सब रहेंगी। वे केवल अन्धकार में आलोक के लिए यत्न करना मात्र है, और इस प्रकार यत्न करते करते आलोक आयेगा। हम अभी ही देख चुके हैं कि आत्मा अपने को देख नहीं पाती। हमारा समग्र

धर्मविज्ञान

ज्ञान माया (मिथ्या) के जाल में अवस्थित है, मुक्ति उसके बाहर है, इस जाल में दासत्व है, इसका सब कुछ ही नियमाधीन है। उसके बाहर और कोई नियम नहीं है। यह ब्रह्माण्ड जितनी दूर तक है, उतनी दूर तक सत्ता नियमाधीन है, मुक्ति उसके बाहर है। जितने दिन आप देश-काल-निमित्त के जाल में विद्यमान हैं, उतने दिन तक आप मुक्त हैं—यह बात कहना निरर्थक है, क्योंकि इस जाल में समग्र ही कठोर नियम में, कार्य-कारण-शृङ्खला में बद्ध हैं। आप जो भी चिन्ता करते हैं, वह पूर्व कारण का कार्यस्वरूप है, प्रत्येक भाव ही कारण का कार्यस्वरूप है। इच्छा को स्वाधीन कहना सम्पूर्ण निरर्थक है। ज्यों ही वह अनन्त सत्ता मानो इस मायाजाल के भीतर पड़ती है, त्यों ही वह इच्छा का आकार धारण करती है। इच्छा मायाजाल में आवद्ध उस पुरुष का किञ्चित् अंश मात्र है, इसलिए “स्वाधीन इच्छा” शब्द का कोई अर्थ नहीं है। स्वाधीनता अथवा मुक्ति के सम्बन्ध में यह सब वागाडम्बर और वृथा है। माया के भीतर स्वाधीनता नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति ही चिन्ता में, मन में, कार्य में पत्थर के एक खण्ड अथवा उस टेबुल के समान बद्ध है। हम आप लोगों के सम्मुख वक्तृता दे रहे हैं, और आप सब हमारी बात सुन रहे हैं, यह दोनों ही कठोर कार्य-कारण-नियम के अधीन है। माया से जितने दिन आप बाहर नहीं जाते, उतने दिनों स्वाधीनता अथवा मुक्ति नहीं है। वह मायातीत अवस्था ही आत्मा की यथार्थ स्वाधीनता है। किन्तु मनुष्य

कितना ही तीक्ष्णबुद्धि क्यों न हो, यहाँ की कोई भी वस्तु स्वाधीन या मुक्त नहीं हो सकती—इस युक्ति की सत्यता या बल कितने ही अधिक स्पष्ट रूप से क्यों न देखे, सब को ही बाध्य होकर आप सब को स्वाधीन मानना पड़ता है, ऐसा किये बिना रहा ही नहीं जा सकता। जब तक हम न कहें कि हम स्वाधीन हैं, तब तक कोई काम ही नहीं चल सकता। इसका तात्पर्य यह है कि, हम जिस स्वाधीनता की बात कहा करते हैं, वह अज्ञानरूप मेघराशि के भीतर से निर्मल नीलाकाशरूप उसी शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा का चकित-दर्शन-मात्र है, और नीलाकाशरूप वास्तविक स्वाधीनता अर्थात् मुक्तस्वभाव आत्मा उसके बाहर विद्यमान है। यथार्थ स्वाधीनता इसी भ्रम में, इसी मिथ्या में, इसी व्यर्थ के संसार में, इन्द्रिय-मन-देह-समन्वित इस ब्रह्माण्ड में रह नहीं सकती। यह समग्र अनादि अनन्त स्वप्न है—जो हमारे वश में नहीं है, जिस सब को वश में लाया भी नहीं जा सकता, जो अयथा-सन्निवेशित है, भ्रम और असामञ्जस्य-मय है—उन्हीं समग्र स्वप्नों को लेकर हमारा यह जगत है। आप जब स्वप्न में देखते हैं कि, बीस शिर वाला एक दैत्य आपको पकड़ने के लिए आ रहा है, और आप उसके निकट से भाग रहे हैं, आप उसे असंलग्न नहीं समझते। आप मानते हैं, यह तो ठीक ही हो रहा है। हम जिसे नियम कहते हैं, वह भी इसी प्रकार का है। जो कुछ आप नियम के रूप में निर्दिष्ट करते हैं, वह सब केवल आकास्मिक घटना मात्र है, उनका कोई अर्थ नहीं है। इस स्वप्न की अवस्था में ही आप उसे नियम कह कर अभिहित करते हैं। माया के भीतर जहाँ तक यह

धर्मविज्ञान

देश-काल-निमित्त का नियम विद्यमान है, वहाँ तक स्वाधीनता अथवा मुक्ति नहीं है और यह विभिन्न उपासना-प्रणाली-समूह, सब ही इस माया के अन्तर्गत है। ईश्वर की धारणा एवं पशु और मनुष्य की धारणा सब ही इस माया के भीतर है, इसलिए सब ही समभाव से भ्रमात्मक है, सब ही स्वप्नमात्र है। तिस पर आजकल हमें बहुतेरे अतिबुद्धि दिग्गज देखने को मिलते हैं। आप उनके समान तर्क अथवा सिद्धान्त न कर बैठें, इस विषय में सावधान हो जाइये। वे कहते हैं, ईश्वर-धारणा भ्रमात्मक है, किन्तु इस जगत की धारणा सत्य है। वास्तव में किन्तु ये दोनों धारणायें ही एक भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं। उन्हें ही केवल यथार्थतः नास्तिक होने का अधिकार है, जो इहजगत और पर जगत दोनों ही अस्वीकार करते हैं। दोनों ही एक ही युक्ति पर प्रतिष्ठित हैं; ईश्वर से लगा कर क्षुद्रतम जीव पर्यन्त, आब्रह्मस्तम्भ पर्यन्त उसी एक माया का राजत्व है। एक ही प्रकार से उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा अथवा अस्ति-निवृत्ति सिद्ध होती है। जो व्यक्ति ईश्वर-धारणा को भ्रमात्मक बोध करते हैं, उनका निज की देह और निज के मन की धारणा को भी भ्रमात्मक बोध करना उचित है। जब ईश्वर उड़ जाते हैं, तब देह और मन उड़ जाता है और जब दोनों का ही लोप होता है, तब ही जो यथार्थ सत्ता है, वह चिरकाल के लिए रह जाती है।

“वहाँ आँखें जा नहीं सकतीं, वाक्य भी जा नहीं सकता, मन भी नहीं। हम उसे देख नहीं पाते और जान भी नहीं पाते।”^१

१—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः इत्यादि

केन उपनिषद्, १। ३

इसका तात्पर्य हम अब समझ पा रहे हैं कि जितनी दूर तक वाक्य, चिन्ता अथवा बुद्धि ये सब जा सकते हैं उतनी दूर तक आत्मा का अधिकार है, उतनी दूर तक सब बन्धन के भीतर है। अतः उनसे बाहर है। वहाँ चिन्ता, मन अथवा वाक्य कुछ भी पहुँच नहीं सकता।

इस क्षण तक विचार के द्वारा तो स्पष्ट समझा गया, किन्तु अब साधन की बात आ रही है। इन सब कक्षाओं में वास्तविक शिक्षा का विषय साधन है। इस एकत्व की उपलब्धि के लिए क्या किसी प्रकार के साधन का प्रयोजन है? निश्चित रूप से है। साधना के द्वारा आप लोगों को ब्रह्म बनना होगा, यह बात नहीं है, आप लोग पहले से ही वह हैं। आप लोगों को ईश्वर बनना होगा अथवा पूर्ण बनना होगा, यह बात सत्य नहीं है। आप सदैव पूर्णस्वरूप हैं और जिस क्षण ही आप सोचते हैं, आप पूर्ण नहीं हैं, वह तो एक भ्रम है। यह भ्रम—जिसके कारण आप लोगों को अमुक पुरुष, अमुक नारी का बोध होता है, अन्य एक भ्रम के द्वारा दूर हो सकता है, तथा साधना अथवा अभ्यास ही वह अन्य भ्रम है। आग आग को खा जायेगी—आप एक भ्रम को नाश करने के लिए दूसरे भ्रम की सहायता ले सकते हैं। मेघ का एक खण्ड आकर मेघ के दूसरे खण्ड को हटा देगा, अन्त में दोनों ही चले जायेंगे। तो ये साधनाएँ क्या हैं? हमें सर्वदा ही स्मरण रखना होगा कि, हम जो मुक्त होंगे यह बात नहीं है, हम सदा ही मुक्त

धर्मविज्ञान

हैं। हम बद्ध हैं, इस प्रकार की भावनामात्र ही भ्रम है; हम सुखी हैं अथवा हम असुखी हैं, इस प्रकार की भावनामात्र ही गुरुतर भ्रम है; और एक भ्रम आयेगा कि हमें मुक्त होने के लिए साधना, उपासना और चेष्टा करनी होगी; यह भ्रम आकर पहले भ्रम को भगा देगा, तब दोनों भ्रम ही दूर हो जायेंगे। मुसलमानगण शृगाल को अत्यन्त अपवित्र जानकर मानते हैं, हिन्दू भी उसी प्रकार कुत्ते को अपवित्र मानते हैं। अतएव यदि शृगाल और कुत्ता भोजन छूले तो उसे फेंक देना पड़ता है, उसे फिर किसी में खाने की शक्ति नहीं है। किसी मुसलमान के घर में एक शृगाल प्रवेश करके टेबुल से कुछ खाद्य लेकर भाग गया। व्यक्ति बड़ा ही दरिद्र था। उसने अपने लिए उस दिन अत्यन्त उत्तम भोजन का आयोजन किया था और वही भोज्य द्रव्य सब का सब शृगाल के स्पर्श से अपवित्र हो गया! अब उसे खाने का अवलम्ब नहीं है। इस कारण ही उसने एक मुल्ला के निकट जाकर निवेदन किया—“साहब, निर्धन का एक निवेदन सुनिये। एक शृगाल आकर हमारे खाद्य में से कुछ लेकर खा गया है, अब उसका कोई उपाय कीजिये। हमने अत्यन्त सुखाद्य सब वस्तुएँ प्रस्तुत की थीं। हमारी बड़ी ही वासना थी कि परम तृप्ति के सहित हम वह सब भोजन करें। इतने में नीच शृगाल आकर सब नष्ट करके चला गया। आप इसकी जो भी हो, एक व्यवस्था कर दीजिये।” मुल्ला ने मुहूर्त भर कुछ सोचा, उसके पश्चात् उसने उसका एकमात्र सिद्धान्त स्थिर करके कहा, “इसका एकमात्र उपाय है—एक कुत्ता ले आकर जिस थाल से शृगाल खा गया था, उसी थाल से उसे कुछ खिलाना

है। अब कुत्ते और शृगाल में तो नित्य का विवाद है। तब शृगाल की जूठन भी तुम्हारे पेट में जायेगी, कुत्ते की जूठन भी जायेगी, ये दोनों जूठन परस्पर वहाँ झगड़ा करेंगी तब सब शुद्ध हो जायेगा !” हम लोग भी बहुत कुछ इस प्रकार की ही समस्या में पड़ गये हैं। हम जो अपूर्ण हैं, यह एक भ्रम है; हमने उसे दूर करने के लिए और एक भ्रम की सहायता ली कि, पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें साधना करनी होगी। इस क्षण एक भ्रम दूसरे एक भ्रम को दूर कर देगा, जैसे हम एक काँटा निकालने के लिए दूसरे एक काँटे की सहायता ले सकते हैं और अन्त में दोनों काँटे ही फेंक दे सकते हैं। ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं, जिनके पक्ष में एक बार ‘तत्त्वमसि’ सुनने पर ही तत्क्षण ज्ञान का उदय होता है। क्षणमात्र में यह जगत उड़ जाता है तथा आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होने लगता है, किन्तु और सब को इस बन्धन की धारणा दूर करने के लिए कठोर यत्न करना होता है।

प्रथम प्रश्न यह है, ज्ञानयोगी होने के अधिकारी कौन हैं? जिनमें निम्नलिखित साधन-सम्पत्तियाँ हैं। प्रथमतः इहामूत्रफल-भोगविराग, इस जीवन में अथवा पर जीवन में सब प्रकार के कर्मफल और सब प्रकार की भोगवासना का त्याग है। यदि आप ही इस जगत के स्रष्टा हों तो आप जो वासना कीजियेगा, वही पाइयेगा; क्योंकि आप वह अपने भोग के लिए सृजन कीजियेगा। केवल किसी को शीघ्र, अथवा किसी को विलम्ब से यह फललाम

धर्मविज्ञान

होता है। कोई कोई तत्क्षण उसे प्राप्त करते हैं; अन्य के पक्ष में उनके समस्त भूतसंस्कार उनकी वासना-पूर्ति में बाधा डालते रहते हैं। हम इहजन्म अथवा परजन्म की भोगवासना को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया करते हैं। इहजन्म अथवा परजन्म अथवा आपका किसी प्रकार का जन्म है, यह नितान्त अस्वीकार कीजिये; क्योंकि जीवन मृत्यु का ही नामान्तरमात्र है। आप जो जीवनसम्पन्न प्राणी हैं, यह भी अस्वीकार कीजिये। जीवन के लिए कौन व्यस्त है? जीवन एक भ्रम मात्र है, मृत्यु उसका और एक बाजू मात्र है। सुख इस भ्रम का ही एक बाजू है, और दुःख दूसरा एक बाजू है। सब विषय में ही इसी प्रकार है। जीवन अथवा मृत्यु को ले कर आपका क्या हुआ? यह सब तो मन की सृष्टि मात्र है। इसे ही इहामूत्रफलभोगविराग कहते हैं।

इसके पश्चात् शम अथवा मन के संयम की आवश्यकता है। मन को ऐसा शान्त करना होगा कि, वह फिर तरङ्ग के आकार में भग्न हो कर सब प्रकार की वासनाओं का लीलाक्षेत्र न बने। मन को स्थिर रखना होगा, बाहर के अथवा भीतर के किसी कारण से उसमें जिससे तरङ्ग न उठे—केवल इच्छाशक्ति के द्वारा मन को सम्पूर्ण रूप से संयत करना होगा। ज्ञानयोगी शारीरिक अथवा मानसिक किसी प्रकार की सहायता नहीं लेते। वे केवल दार्शनिक विचार, ज्ञान और निज की इच्छाशक्ति—इन सब साधनों के प्रति ही विश्वासी हैं। उसके पश्चात् त्रिभिन्ना—किसी प्रकार का विलाप

आत्मा का मुक्त स्वभाव

किये बिना सब दुःखों का सहन है। जब आपका किसी प्रकार का अनिष्ट घटित होगा, उस ओर ध्यान नहीं दीजियेगा। यदि सामने एक बाघ आये, स्थिर हो कर खड़े रहिये। भागेगा कौन? अनेक व्यक्ति हैं, जो तितिक्षा का अभ्यास करते हैं और उसमें कृतकार्य होते हैं। ऐसे व्यक्ति अनेक हैं, जो भारत में ग्रीष्म ऋतु में प्रखर मध्याह्न-सूर्य के ताप में गङ्गातीर पर सोये रहते हैं और शीतकाल में गङ्गाजल में सारे दिन डूबे रहते हैं। उसकी कुछ परवाह ही नहीं करते। अनेक व्यक्ति हिमालय की तुषारराशि में बैठे रहते हैं, किसी प्रकार के बख आदि के लिए विचार भी नहीं करते। ग्रीष्म ही अन्ततः क्या है? शीत ही अन्ततः क्या है? यह सब आये जाये—हमारा उसमें क्या है। ‘हम’ तो शरीर नहीं हैं। इस पाश्चात्य देशसमूह में इसे विश्वास करना कठिन है, किन्तु इस प्रकार लोग किया करते हैं, यह जान रखना अच्छा है। जिस प्रकार आपके देश के लोग तोप के मुँह में अथवा युद्धक्षेत्र के बीच में कूद पड़ने में साहसिकता दिखाया करते हैं, हमारे देश के व्यक्ति भी उसी प्रकार दर्शनशास्त्र के अनुसार चिन्ता-प्रणाली नियमित करने में और उसके अनुसार कार्य करने में साहसिकता दिखाया करते हैं। वे इसके लिए प्राण दिया करते हैं। “हम सच्चिदानन्दस्वरूप हैं—‘सोऽहं, सोऽहं’।” प्रतिदिन के कर्म-जीवन में विलासिता को बनाये रखना जिस प्रकार पाश्चात्य आदर्श है, उसी प्रकार हमारा आदर्श कर्मजीवन में सर्वोच्च मूल्य के आध्यात्मिक भाव की रक्षा करना है। हम इसके द्वारा यही प्रमाणित

धर्मविज्ञान

करना चाहते हैं कि, धर्म केवल कथामात्र नहीं है, किन्तु इस जीवन में ही धर्म का सर्वाङ्ग, सम्पूर्ण रूप से कार्य में परिणत किया जा सकता है। यही तितिक्षा है—सब कुछ सहन करना—किसी विषय में असन्तोष प्रकाशित न करना। हमने स्वतः ऐसे व्यक्ति देखे हैं, जो कहते हैं, “हम आत्मा हैं—हमारे निकट ब्रह्माण्ड का भी गौरव क्या है। सुख, दुःख, पाप, पुण्य, शीत, उष्ण, ये सब हमारे पक्ष में कुछ भी नहीं हैं।” यही तितिक्षा है—देह के भोगसुख के लिए दौड़ना नहीं है। धर्म क्या है? धर्म का अर्थ क्या इस प्रकार प्रार्थना करना है कि, “हमें यह दो, वह दो?” धर्म के सम्बन्ध में ये सब धारणायें प्रमाद हैं। जो धर्म को इस प्रकार का मानते हैं, उनमें ईश्वर और आत्मा की यथार्थ धारणा नहीं है। हमारे आचार्य देव कहा करते थे, “चील शकुनि बहुत ऊँचे उड़ते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि रहती है जानवरों के शव की ओर।” जो हो आपमें धर्म के सम्बन्ध में जो सब धारणायें हैं, उनका फल क्या है बताइये तो सही। मार्ग स्वच्छ करना और उत्तम प्रकार का अन्न-वस्त्र एकत्र करना? अन्न-वस्त्र के लिए कौन भावना करता है? प्रति मुहूर्त लाखों व्यक्ति आ रहे हैं, लाखों जा रहे हैं—कौन परवाह करता है? इस क्षुद्र जगत के सुख-दुःख को ग्राह्य मानते ही क्यों हैं? यदि साहस हो, उनके बाहर चले जाइये। सब नियमों के बाहर चले जाइये, समग्र जगत उड़ जाय—आप अकेले आ कर खड़े होइये। “हम निरपेक्ष सत्ता हैं, निरपेक्ष ज्ञान और निरपेक्ष आनन्दस्वरूप—सोऽहं, सोऽहं।”

पाँचवाँ अध्याय

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

हमने देखा है, वैराग्य अथवा त्याग ही इन समस्त विभिन्न योगों की मूल भित्ति है। कर्मी कर्मफल त्याग करते हैं। भक्त उन सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी प्रेमस्वरूप के लिए समग्र क्षुद्र क्षुद्र प्रेम का त्याग करते हैं; योगी जो कुछ अनुभव करते हैं, उनकी जो कुछ अभिज्ञता है समुदय परित्याग करते हैं, क्योंकि उनके योगशास्त्र की शिक्षा यही है कि समुदय प्रकृति यद्यपि आत्मा के भोग और उसकी अभिज्ञता के लिए है, वह अन्त में उन्हें समझा देती है कि, वे प्रकृति में अवस्थित नहीं हैं, किन्तु प्रकृति से नित्य स्वतंत्र हैं। ज्ञानी सब कुछ त्याग करते हैं, क्योंकि ज्ञानशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि, भूत, भविष्यत, वर्तमान किसी काल में भी प्रकृति का अस्तित्व नहीं है। हमने यह भी देखा है, इन सब उच्चतर विषयों में 'इससे क्या लाभ है'—यह प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। लाभ-अलाभ के प्रश्न की जिज्ञासा ही यहाँ अस्वाभाविक है, और यदि यह प्रश्न जिज्ञासित ही हो तिस पर भी हम इस प्रश्न का उत्तम रूप से विश्लेषण करके क्या पाते हैं? लाभ का अर्थ क्या है?—सुख—जो वस्तु लोगों की सांसारिक अवस्था की उन्नति साधित नहीं करती, जिससे उनके सुख की वृद्धि नहीं होती,

धर्मविज्ञान

उसकी अपेक्षा जिससे उन्हें अधिक सुख प्राप्त होता है—उसमें ही उनका अधिक लाभ है—अधिक हित है। समग्र विज्ञान इसी एक लक्ष्य-साधन में अर्थात् मनुष्यजाति को सुखी करने के लिए यत्न कर रहा है, तथा जिससे अधिक परिमाण में सुख उत्पन्न होता है, मनुष्य उसे ही ग्रहण करके जिसमें अल्प सुख है उसे त्याग देता है। हमने देखा है, सुख या तो देह में अथवा मन में अथवा आत्मा में अवस्थित है। पशुओं का एवं पशुप्राय अनुन्नत मनुष्यगण का समस्त सुख देह में है। भूख से आर्त एक कुत्ता अथवा बाघ जिस प्रकार तृप्ति के सहित आहार करता है, कोई मनुष्य उस प्रकार नहीं कर सकता। अतः कुत्ते अथवा बाघ के सुख का आदर्श सम्पूर्ण रूप से देहगत है। मनुष्य में हम कुछ उच्च स्तर का सुख देखते हैं—मनुष्य ज्ञान की आलोचना से सुखी हुआ करता है। सर्वोच्च स्तर का सुख ज्ञानीगण का है—वे आत्मानन्द में विभोर रहते हैं। आत्मा ही उनके सुख का एकमात्र उपकरण है। अतएव ज्ञानी के पक्ष में यह आत्मज्ञान ही परम लाभ अथवा हित है; क्योंकि इससे ही वे परम सुख प्राप्त करते हैं। जड़ विषय-समूह अथवा इन्द्रियचरितार्थता उनके लिए सर्वोच्च लाभ का विषय हो नहीं सकता, क्योंकि, वे ज्ञान में जिस प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं, विषयसमूह अथवा इन्द्रियभोग से उस प्रकार नहीं पाते। तथा वास्तव में ज्ञान ही सब का एकमात्र लक्ष्य है, तथा हम जितने प्रकार के सुख के विषयों से परिचित हैं, उनमें से आत्मज्ञान ही सर्वोच्च सुख है। जो अज्ञान में कार्य किया करते हैं, वे देवगण के

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

पशुओं के सम्मोह हैं। यहाँ देव अर्थ में ज्ञानी व्यक्ति को मानना होगा। जो सब व्यक्ति यंत्रवत् कार्य अथवा परिश्रम करते रहते हैं, वे वास्तव में जीवन को सम्भोग नहीं करते, ज्ञानी व्यक्ति ही जीवन को सम्भोग करते हैं। एक धनी व्यक्ति ने मान लीजिये एक लाख रुपये व्यय करके एक चित्र मोल लिया, किन्तु जो शिल्प समझ सकता है, वही उसे सम्भोग करेगा। क्रेता यदि शिल्पज्ञानशून्य हो, तो उसके लिए वह चित्र निरर्थक है, वह केवल उसका अधिकारी मात्र है। समग्र जगत में ज्ञानी व्यक्ति ही जगत का सुख सम्भोग करते हैं। अज्ञान व्यक्ति कभी सुखभोग कर नहीं सकता, उसे अज्ञात अवस्था में भी दूसरे के लिए परिश्रम करना होता है।

यहाँ तक हमने अद्वैतवादियों के सिद्धान्त-समूह को देख लिया, हमने देखा—उनके मत के अनुसार एकमात्र आत्मा है, दो आत्माएँ रह नहीं सकती। हमने देखा—समग्र जगत में एक सत्तामात्र विद्यमान है, तथा वही एक सत्ता इन्द्रियगण के भीतर से दिखाई पड़ने पर वही जड़ जगत के समान प्रतीत होती है। जब केवल मन के भीतर से वह दिखाई पड़ती है, तब उसे चिन्ता और भावजगत कहते हैं तथा जब उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है, तब वह एक अनन्त पुरुष के रूप में प्रतीत होती है। इस विषय को आप विशेष रूप से स्मरण रखियेगा—यह कड़ना ठीक नहीं है कि, मनुष्य के भीतर एक आत्मा है, यद्यपि समझने के लिए पहले हमें इस प्रकार मान लेना पड़ा था। वास्तव में केवल एक सत्ता विद्यमान है एवं वह सत्ता आत्मा है—और वह जब

धर्मविज्ञान

इन्द्रियगण के भीतर से अनुभूत होती है, तब उसे ही देह कहते हैं, जब वह चिन्ता या भाव के भीतर से अनुभूत होती है तब उसे ही मन कहते हैं तथा जब वह स्व-स्वरूप में उपलब्ध होती है, तब वह आत्मारूप में—उसी एक अद्वितीय सत्ता के रूप में प्रतीत होती है। अतएव यह ठीक नहीं है कि, एक स्थान में देह, मन और आत्मा—ये तीनों वस्तुएँ विद्यमान हैं—यद्यपि समझाते समय इस प्रकार की व्याख्या करके समझाना अत्यन्त सहज हुआ था—किन्तु सब ही वही आत्मा हैं तथा वह एक पुरुष ही विभिन्न दृष्टि के अनुसार कभी देह, कभी मन, अथवा कभी आत्मारूप में अभिहित हुआ करता है। एकमात्र पुरुष ही विद्यमान है, अज्ञानी-गण उसे ही जगत कहा करते हैं। जब वह व्यक्ति ही ज्ञान में अपेक्षाकृत उन्नत होता है, तब वह उस पुरुष को ही भावजगत कहने लगता है। तथा जब पूर्ण ज्ञान के उदय से सब भ्रम उड़ जाता है, तब मनुष्य देख पाता है, यह सब ही आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चरम सिद्धान्त यह है कि, ‘हम वही एक सत्ता है’। जगत में दो तीन सत्ताएँ नहीं हैं, सब ही एक है। वह एक सत्ता ही माया के प्रभाव से बहुरूप में दिखाई पड़ रही है, जिस प्रकार अज्ञानवश रस्सी में साँप का भ्रम हो जाता है। वह रस्सी ही साँप के समान दिखाई पड़ती है। यहाँ रस्सी अलग और साँप अलग—दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। कोई यहाँ दो वस्तुएँ नहीं देखता। द्वैतवाद अद्वैतवाद अत्यन्त सुन्दर दार्शनिक पारिभाषिक शब्द हो सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण अनुभूति के समय

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

हम एक समय में ही सत्य और मिथ्या कभी देख नहीं पाते । हम सब जन्म से ही अद्वैतवादी हैं, इस बात से भागने का उपाय नहीं है । हम सब समय ही एक देखते हैं । जब हम रस्सी देखते हैं, तब साँप बिलकुल नहीं देखते, और जब साँप देखते हैं, तब रस्सी बिलकुल नहीं देखते—वह उस समय उड़ जाता है । जब आप लोगों को भ्रम दर्शन होता है, तब आप यथार्थ मनुष्य नहीं देखते । मान लीजिये, दूर से मार्ग में आपके एक बन्धु आ रहे हैं । आप उनसे अत्यन्त उत्तम रूप से परिचित हैं, किन्तु आपके सम्मुख कुहरा होने के कारण आप उन्हें अन्य व्यक्ति समझ रहे हैं, जब आप अपने बन्धु को अन्य व्यक्ति समझ रहे हैं, तब आप अपने बन्धु को देख नहीं रहे हैं, वे अन्तर्हित हो गये हैं । आप केवल एक व्यक्ति को देख रहे हैं । मान लीजिये, आपके बन्धु को 'क' कह कर अभिहित किया गया । तब आप जब 'क' को 'ख' के समान देख रहे हैं, तब आप 'क' को बिलकुल ही नहीं देख रहे हैं । इस प्रकार सब स्थानों में आपको एक की ही उपलब्धि होती है । जब आप अपने को देहरूप में दर्शन करते हैं, तब आप देहमात्र हैं, और कुछ नहीं हैं, तथा जगत के अधिकांश मनुष्यों को ही इसी प्रकार की उपलब्धि होती है । वे आत्मा मन आदि बातें मुँह से कह सकते हैं, किन्तु देखते हैं यह स्थूल भौतिक आकृति ही—स्पर्श, दर्शन, आस्वाद इत्यादि, तथा कोई कोई व्यक्ति अपनी ज्ञानभूमि की विशेष प्रकार की अवस्था में अपने को चिन्ता अथवा भावरूप में अनुभव किया करते हैं ।

धर्मविज्ञान

सर हैम्फ्रि डेमि के सम्बन्ध में जो गल्प प्रचलित है, आप अवश्य उसे जानते हैं। वे अपनी कक्षा में हास्यजनक भाफ (Laughing Gas) ले कर परीक्षा कर रहे थे। हठात एक नल टूट जाने के कारण वह भाफ बाहर निकल आई और निश्वास के संयोग से उन्होंने उसे ग्रहण किया। कुछ क्षणों तक वे पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल भाव से खड़े रहे। अन्त में उन्होंने कक्षा के विद्यार्थियों से कहा, जब हम उस अवस्था में थे, हम वास्तव में अनुभव कर रहे थे कि, समस्त जगत चिन्ता अथवा भाव से गठित है। उस भाफ की शक्ति से कुछ क्षणों के लिए उन्हें अपना देहज्ञान विस्मृत हो गया था, और जिसे पहले वे शरीर के रूप में देख रहे थे, उसे ही इस समय चिन्ता अथवा भावसमूह के रूप में देख सके। जब अनुभूति और भी उच्चतर अवस्था में जाती है, जब इस क्षुद्र अहंज्ञान को चिरदिन के लिए पार कर लिया जाता है, तब सब के पश्चात् जो सत्य वस्तु विद्यमान है, वह प्रकाशित होने लगती है। उसे तब हम अखण्ड सच्चिदानन्दरूप में—उस एक आत्मा के रूप में—अनन्त पुरुष-रूप में दर्शन करते हैं।

ज्ञानी व्यक्ति समाधि काल में अनिर्वचनीय, नित्यबोध, केवलानन्द, निरुपम, अपार, नित्यमुक्त, निष्क्रिय, असीम, गगनसम, निष्कल, निर्विकल्प पूर्णब्रह्म मात्र हृदय में साक्षात् दर्शन करते हैं।*

* किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधि गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ।

विवेकचूडामणि, ५१०

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

अद्वैतमतावलम्बी इस समस्त विभिन्न प्रकार के स्वर्गनरक की एवं हम सकल धर्मों में जो नानाविध भाव देख पाते हैं, इन सब की किस प्रकार व्याख्या करते हैं? जब मनुष्य की मृत्यु होती है, कहा जाता है कि, वह स्वर्ग में अथवा नरक में जाता है, यहाँ वहाँ नाना स्थानों में जाता है अथवा स्वर्ग में या अन्य किसी लोक में देह धारण करके जन्मपरिग्रह करता है। अद्वैतवादी कहते हैं, यह सब ही भ्रम है। वास्तव में कोई उत्पन्न भी नहीं होता, मरता भी नहीं है। स्वर्ग भी नहीं है, नरक भी नहीं है अथवा इहलोक भी नहीं है। इन तीनों का ही किसी काल में अस्तित्व नहीं है। एक बालक को अनेक भूतों की कहानियाँ सुना कर सन्ध्या के समय उसे बाहर जाने को कहिये। एक खम्भा है। बालक क्या देखता है। वह देखता है—एक भूत हाथ बढ़ा कर उसे पकड़ने को आ रहा है। मान लीजिये, एक प्रेमिक मार्ग के एक कोने से अपनी प्रेमिका के दर्शन करने के लिए आ रहा है—वह उस खम्भे को अपनी प्रणयिनी समझ लेता है। एक पहरावाला उसे चोर समझेगा, तथा चोर उसे पहरावाला ठहरायेगा। वह एक ही खम्भा विभिन्न रूप में दिखाई पड़ रहा है। खम्भा वस्तु ही सत्य है, तथा यह जो विभिन्न भाव में उसका दर्शन है—वह केवल नाना प्रकार का मन का विकार मात्र है। एकमात्र पुरुष—यह आत्मा ही विद्यमान है। वह कहीं जाती भी नहीं है, आती भी नहीं है। अज्ञान मनुष्य स्वर्ग अथवा उस प्रकार के स्थान में जाने की वासना करता है, समस्त जीवन उसने केवल क्रमागत उसकी ही चिन्ता

धर्मविज्ञान

की है। इस पृथिवी का स्वप्न जब उसका चला जाता है, तब वह इस जगत को ही स्वर्गरूप में देख पाता है—देखता है कि यहाँ देववृन्द विराज करते हैं इत्यादि इत्यादि। यदि कोई व्यक्ति समस्त जीवन अपने पूर्व पित्रुपुरुषगण को देखना चाहे, वह आदम से आरम्भ करके सब को ही देख पाता है, क्योंकि, वह स्वयं ही उन सब की सृष्टि किया करता है। यदि कोई और अधिक अज्ञान हो और तत्सुखी चिरकाल उसे नरक का भय दिखाया करें, तो वह मृत्यु के पश्चात् इस जगत को ही नरक के रूप में देखता है, और यह भी देखता है कि वहाँ लोग अनेक प्रकार के दण्ड भोग कर रहे हैं। मृत्यु अथवा जन्म का और कुछ भी अर्थ नहीं है, केवल दृष्टि का परिवर्तन है। आप भी कहीं जाते नहीं अथवा आप जिसके ऊपर अपना दृष्टिक्षेप करते हैं, वह भी कहीं नहीं जाता। आप तो नित्य अपरिणामी हैं। आपका फिर जाना आना क्या है? यह असम्भव है। आप तो सर्वव्यापी हैं। आकाश कभी गतिशील नहीं है, किन्तु उसके ऊपर से मेघ इस दिशा से उस दिशा की ओर जाया करते हैं—हम समझते हैं, आकाश ही गतिशील हुआ है। रेलगाड़ी में चढ़ कर यात्रा करते समय जैसे पृथिवी गतिशील प्रतीत होती है, यह भी ठीक उसी प्रकार है। वास्तव में तो पृथिवी डिग नहीं रही है, रेलगाड़ी ही चल रही है। इसी प्रकार आप जहाँ थे, वहीं हैं, केवल ये सब विभिन्न स्वप्न हैं, मेघसमूह के समान इस उस दिशा में जा रहे हैं। एक स्वप्न के पश्चात् और एक स्वप्न आ रहा है—उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

इस जगत में नियम अथवा सम्बन्ध नामक कुछ भी नहीं है, किन्तु हम सोच रहे हैं, परस्पर यथेष्ट सम्बन्ध है। आप सब ने ही सम्भवतः 'एलिस का अद्भुत देशदर्शन' (Alice in wonderland) नामक ग्रन्थ पढ़ा है। हमने उस पुस्तक को पढ़ कर बहुत आनन्द लाभ किया था—हमारे मस्तिष्क में बराबर बालकों के लिए उस प्रकार की पुस्तक लिखने की इच्छा थी। हमें उसमें से सब से अधिक अच्छा यह लगा था कि, आप जिसे सब से अधिक असङ्गत समझते हैं, वही उसमें है—किसी के सहित किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है। एक भाव आकर मानो दूसरे एक के गले में कूद पड़ रहा है—उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। जब आप लोग शिशु थे, आप सोचते थे, उनमें परस्पर अद्भुत सम्बन्ध विद्यमान है। उस व्यक्ति ने अपनी शैशवावस्था की चिन्ताओं को—शैशव अवस्था में जो जो उसे सम्पूर्ण सम्बन्धयुक्त प्रतीत होता था, उन्हें ही ले कर शिशुओं के लिए उस पुस्तक की रचना की है। और अनेक व्यक्ति बालकों के लिए जिन सब पुस्तकों की रचना करते हैं, उनमें वे बड़े होने पर जो सब चिन्ताएँ आई हैं तथा भाव जाग्रत हुए हैं, उन्हें ही बालकों को कण्ठगत कराने का यत्न करते हैं—किन्तु ये पुस्तकें बालकों के लिए कुछ भी उपयोगी नहीं होतीं—वह सब फ़ज़ूल अनर्थक लेखन मात्र है। जो हो, हम भी सब ही वयःप्राप्त शिशु मात्र हैं। हमारा जगत भी उसी प्रकार की असम्बद्ध वस्तु मात्र है—वह सब एलिस का अद्भुत राज्य है—किसी के सहित किसी का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। हम

धर्मविज्ञान

जब अनेक बार अनेक घटनाओं को एक निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटित देखते हैं, हम उन्हें ही कार्य-कारण के नाम से अभिहित करते हैं, और कहते हैं कि, वे फिर भी घटित होंगी। जब ये स्वप्न चले जायेंगे और इनके स्थान में दूसरे स्वप्न आयेंगे, तब वे भी इनके ही समान सम्बन्धयुक्त प्रतीत होंगे। स्वप्न-दर्शन के समय हम जो कुछ देखते हैं, सब ही परस्पर सम्बन्धयुक्त प्रतीत होता है, स्वप्न की अवस्था में हमें वे कभी असम्बद्ध अथवा असङ्गत नहीं लगते—केवल जब हम जाग उठते हैं तब ही सम्बन्ध का अभाव देख पाते हैं। इसी प्रकार जब हम इस जगत्स्वरूप स्वप्न दर्शन से जाग उठ कर इस स्वप्न की सत्य के सहित तुलना करके देखेंगे, तब वह सब ही असम्बद्ध और निरर्थक प्रतिभात होगा—कितनी ही असम्बद्ध वस्तुएँ मानो हमारे सामने से चली गईं—वे कहाँ से आईं, कहाँ जा रही हैं, हम कुछ भी नहीं जानते, किन्तु हम यह जानते हैं कि, उनका अन्त होगा। और इसे ही माया कहते हैं। ये सब परिणामशील वस्तुएँ—दल के दल गतिशील मेघ-जालों के समान हैं, और वह अपरिणामी सूर्य आप स्वयं हैं। जब आप उस अपरिणामी सत्ता को बाहर से देखते हैं, तब उसे आप ईश्वर कहते हैं और भीतर से देखने पर उसे आप निज आत्मा अथवा स्वरूप के समान देखते हैं। दोनों ही एक हैं। आप से पृथक् ईश्वर नहीं है, आपसे—यथार्थतः जो आप हैं—उससे श्रेष्ठतर ईश्वर नहीं है—सब ईश्वर अथवा देवता ही आपकी तुलना में क्षुद्रतर है, ईश्वर, स्वर्गस्थ पिता आदि की समस्त धारणा आपका

ही प्रतिबिम्ब मात्र है। ईश्वर स्वयं ही आपका प्रतिबिम्ब या प्रतिमा-स्वरूप है। 'ईश्वर ने मानव की अपने प्रतिबिम्ब के रूप में सृष्टि की'—यह बात भूल है। मनुष्य ईश्वर की निज के प्रतिबिम्ब के अनुसार सृष्टि करता है—यह बात ही सत्य है। समस्त जगत में ही हम अपने प्रतिबिम्ब के अनुसार ईश्वर अथवा देवगण की सृष्टि करते हैं। हम देवता की सृष्टि करते हैं, उनके पदतल पर पतित होकर उनकी उपासना करते हैं, और ज्यों ही यह स्वप्न हमारे निकट आता है, तब हम उन्हें प्रेम करने लगते हैं।

इस विषय को समझ रखना अधिक आवश्यक है कि आज प्रातः की वक्तृता का सार यह है कि, एक सत्तामात्र ही है तथा वह एक सत्ता ही विभिन्न मध्यवर्ती वस्तुओं के मध्य से होकर दिखाई पड़ने पर उसे ही पृथिवी अथवा स्वर्ग अथवा नरक अथवा ईश्वर अथवा भूतप्रेत अथवा मानव अथवा दैत्य अथवा जगत अथवा वह सब कहते हैं जो बोध होता है। किन्तु इन सब विभिन्न परिणामी वस्तुओं में जिनका कभी परिणाम नहीं होता—जो इस चञ्चल मर्त्य जगत के एकमात्र जीवनस्वरूप हैं, जो एक पुरुष बहु व्यक्तियों की काम्य वस्तु का विधान कर रहे हैं, उन्हें जो सब धीरे व्यक्ति अपनी आत्मा में अवस्थित जान कर उनका दर्शन करते हैं, उन्हें ही नित्य शान्ति लाभ होता है—और किसी को भी नहीं।^१

उसी एक सत्ता का साक्षात्कार करना होगा। किस प्रकार

१—कठोपनिषद्, ५ म वल्ली, १३ वा श्लोक देखिये।

धर्मविज्ञान

उनकी अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति होगी—किस प्रकार उनका साक्षात्कार लाभ होगा, यही इस समय जिज्ञासा की बात है। किस प्रकार यह स्वप्न भङ्ग होगा, हम क्षुद्र क्षुद्र नरनारी हैं—हमको यह चाहिये, वह करना होगा, यह जो स्वप्न है—इससे किस प्रकार हम जागेंगे? हम ही सब जगत के वे अनन्त पुरुष हैं तथा हमने जड़भवापन्न हो कर यह क्षुद्र क्षुद्र नरनारीरूप धारण किया है—हम एक व्यक्ति की मधुर बात से गल जाते हैं तथा दूसरे एक व्यक्ति की कड़ी बात से गरम हो उठते हैं—भला-बुरा सुख-दुःख हम सब को नचा रहा है ! कितनी भयानक निर्भरता है—कितना भयानक दासत्व है। हम—जो सकल सुख-दुःख के अतीत हैं, समस्त जगत ही जिनका प्रतिबिम्ब स्वरूप है—सूर्य चन्द्र तारा जिनके महाप्राण के क्षुद्र निस्सर मात्र हैं, हम इस प्रकार भयानक दागनावापन्न हो गये हैं ! हमारी देह में आपके एक चिमटी के काटने पर हमें लगता है। कोई यदि एक मीठी बात कहता है, त्यों ही हमें आनन्द होने लगता है। हमारी कैसी दुर्दशा है देखिये—हम देह के दास, मन के दास, जगत के दास, एक अच्छी बात के दास, एक बुरी बात के दास, वासना के दास, सुख के दास, जीवन के दास, मृत्यु के दास—हम सब वस्तुओं के दास हैं ! यह दासत्व हटाना किस प्रकार होगा ?

इस आत्मा के सम्बन्ध में पहले सुनना होगा, तत्पश्चात् उसे लेकर मनन अर्थात् विचार करना होगा, तत्पश्चात् उसका निदि-
ध्यासन अर्थात् ध्यान करना होगा ।^१

१—बृहदारण्यक उपनिषद्, ५ म अध्याय ६ वाँ श्लोक देखिये ।

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

अद्वैतज्ञानी की यही नैऋत्य-वृत्ति है। सत्य के सम्बन्ध में पहले सुनना होगा, फिर उसके विषय की चिन्ता करनी होगी, उसके पश्चात् क्रमशः उसे मन मन में दृढ़ भाव से कहना होगा; सर्वदा ही सोचिये—‘हम ब्रह्म हैं’—अन्य सब चिन्ताओं को दुर्बलताजनक मान कर दूर कर देना होगा। जिस किसी चिन्ता से आपको अपने नर-नारी होने का ज्ञान होना है, उसे दूर कर दीजिये। देह जाये, मन जाये, देवतागण भी जायें, भूत, प्रेत आदि भी जायें, उस एक सत्ता के अतिरिक्त सब जायें।

जहाँ एक व्यक्ति अन्य को देखता है, एक व्यक्ति अन्य कुछ सुनता है, एक व्यक्ति अन्य कुछ जानता है, वह क्षुद्र अथवा ससीम है; तथा जहाँ एक व्यक्ति अन्य को देखता नहीं, एक व्यक्ति अन्य कुछ सुनता नहीं, एक व्यक्ति अन्य कुछ जानता नहीं, वही भूमा अर्थात् महान् अथवा अनन्त है।^२

वही सर्वोत्तम वस्तु है, जहाँ विषयी और विषय एक हो जाते हैं। जब हम ही श्रोता और हम ही वक्ता हैं, जब हम ही आचार्य और हम ही शिष्य हैं, जब हम ही स्रष्टा और हम ही सृष्ट हैं, तब ही केवल भय चला जाता है, क्योंकि हमें भयभीत करनेवाला और कोई अथवा कुछ नहीं है। हमारे अतिरिक्त जब

२—“यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति

स भूमा

अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्।”

—छान्दोग्योपनिषद्, ७ म प्रपाठक, २४ खण्ड।

धर्मविज्ञान

और कुछ भी नहीं है, तब हमें भय दिखायेगा कौन? दिन प्रति दिन यही तत्व सुनना होगा। अन्य सब चिन्ताएँ दूर कर दीजिये, और सब दूर तोड़ कर फेंक दीजिये, निरन्तर उसकी आवृत्ति कीजिये। जब तक वह हृदय में न पहुँचे, जब तक प्रत्येक स्नायु, प्रत्येक मांसपेशी, यहाँ तक कि, प्रत्येक शोणित-बिन्दु तक हम ही वे हैं, हम ही वे हैं, इस भाव से पूर्ण न हो जाय, तब तक कान के भीतर से यह तत्व क्रमशः भीतर प्रवेश कराना होगा। यहाँ तक कि, मृत्यु के सामने होकर भी कहिये—हम ही वे हैं। भारत में एक संन्यासी थे—वे शिवोऽहं, शिवोऽहं की आवृत्ति करते थे। एक दिन एक बाघ आकर उनके ऊपर कूद पड़ा और उन्हें खींच ले जाकर उसने उन्हें मार डाला। जब तक वे जीवित रहे, तब तक शिवोऽहं, शिवोऽहं ध्वनि सुनी गई थी! मृत्यु के द्वार में, घोरतर विपद् में, रणक्षेत्र में, समुद्रतल में, उच्चतम पर्वत शिखर में, गभीरतर अरण्य में, चाहे जहाँ क्यों न पड़ जाइये, सर्वदा अपने से कहते रहिये—हम ही वे हैं, हम ही वे हैं। दिन रात बोलते रहिये, हम ही वे हैं। यह श्रेष्ठतम तेज का परिचय है, यही धर्म है।

दुर्बल व्यक्ति कभी आत्मा को लाभ नहीं कर सकता।* कभी मत कहियेगा, 'हे प्रभो! हम अति अधम पापी हैं।' कौन

* नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

मुण्डकोपनिषद्, ३।२।४

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

आपकी सहायता करेगा ? आप जगत के साहाय्यकर्ता हैं—आपकी इस जगत में फिर कौन सहायता कर सकता है ? आपकी सहायता करने में कौन मानव, कौन देवता अथवा कौन दैत्य सक्षम है ? आपके ऊपर और किसकी शक्ति काम करेगी ? आप ही जगत के ईश्वर हैं—आप फिर कहाँ सहायता ढूँढ़ियेगा ? आपने जो कुछ सहायता पाई है, अपने निज के अतिरिक्त और किसी से नहीं पाई । आपने प्रार्थना करके जिसका उत्तर पाया है, अज्ञता-वश आपने सोचा है, अन्य किसी पुरुष ने उसका उत्तर दिया है, किन्तु अनजान में आपने स्वयं ही उस प्रार्थना का उत्तर दिया है । आपसे ही सहायता आई थी, तथा आपने आग्रह के सहित कल्पना कर ली थी कि, अन्य कोई आपको सहायता भेज रहा है । आपके बाहर आपका साहाय्यकर्ता और कोई नहीं है—आप ही जगत के स्रष्टा हैं । रेशम के कीड़े के समान आप ही अपने चहुँ ओर जाल का निर्माण कर रहे हैं । कौन आपका उद्धार करेगा ? आप यह जाल काट फेंक कर सुन्दर तितली के रूप में—मुक्त आत्मारूप में बाहर हो कर आइये । तब ही, केवल तब ही—आप सत्य दर्शन कीजियेगा । सर्वदा अपने मन से कहते रहिये, हम ही वे हैं । ये वाक्य आपके मन के अपवित्रतारूप कूड़ा करकट को भस्म कर देंगे, उससे ही आपके भीतर पहले से ही जो महाशक्ति अवस्थित है वह प्रकाशित हो जायेगी, उससे ही आपके हृदय में जो अनन्त शक्ति सुप्त भाव से विद्यमान है, वह जग जायेगी । सर्वदा ही सत्य—केवलमात्र सत्य—सुन कर ही इस महाशक्ति का उद्बोधन करना होगा । जिस स्थान में

धर्मविज्ञान

दुर्बलता की चिन्ता विद्यमान है, उस स्थान की ओर दृष्टिपात तक मत कीजिये। यदि ज्ञानी होना चाहते हैं, तो सब प्रकार की दुर्बलता का परिहार कीजिये।

साधना आरम्भ करने के पहले मन में जितने प्रकार के सन्देह आ सकते हैं, सब भञ्जन कर लीजिये। युक्ति तर्क विचार जहाँ तक कर सकिये, कीजिये। इसके पश्चात् जब आपने मन में स्थिर सिद्धान्त किया कि यही, एवं केवलमात्र यही सत्य है, और कुछ नहीं है, तब फिर तर्क न कीजियेगा, तब मुँह एकदम बन्द कीजिये। तब फिर तर्क युक्ति न सुनिये, स्वतः भी तर्क न कीजिये। फिर तर्क युक्ति का प्रयोजन क्या? आपने तो विचार करके तृप्ति प्राप्त किया है, आपने तो समस्या का सिद्धान्त कर लिया है, अब तो फिर शेष क्या है? अब सत्य का साक्षात्कार करना होगा। फिर वृथा तर्क में अधिक अमूल्य कालहरण से फल क्या है? अब उस सत्य का ध्यान करना होगा, तथा जो कोई चिन्ता आपको तेजस्वी बनाये, उसे ही ग्रहण करना होगा एवं जो दुर्बल बनाये, उसे ही परित्याग करना होगा। भक्त, मूर्ति प्रतिमा आदि और ईश्वर का ध्यान करते हैं। यही स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु इससे अत्यन्त मन्द गति से अप्रसर होना होता है। योगीगण अपने देह के अभ्यन्तर के विभिन्न केन्द्र अथवा चक्र पर ध्यान करते हैं और मन के भीतर के शक्तिसमूह की परिचालना करते हैं। ज्ञानी कहते हैं, मन का भी अस्तित्व नहीं है, देह का भी अस्तित्व नहीं है। इस

बहु रूप में प्रकाशित एक सत्ता

देह और मन की चिन्ता को दूर कर देना होगा, अतएव उनकी चिन्ता करना अज्ञानोचित कार्य है। वह मानो एक रोग को लाकर दूसरे एक रोग को आरोग्य करने के समान है। अतएव उनका ध्यान ही सब की अपेक्षा कठिन है—नेति, नेति; वे सकल वस्तु के अस्तित्व का ही निरास करते हैं, तथा जो शेष रहता है, वही आत्मा है। यही सब की अपेक्षा अधिक विश्लेषणात्मक (विलोभ) साधन है। ज्ञानी केवलमात्र विश्लेषण के बल से जगत को आत्मा से विच्छिन्न करना चाहते हैं। ‘हम ज्ञानी हैं’ यह बात कहना अत्यन्त सहज है, किन्तु यथार्थ ज्ञानी होना बड़ा ही कठिन है। वेद कहते हैं—

“पथ अत्यन्त दीर्घ है, यह मानो तलवार की तीक्ष्ण धार के ऊपर से भ्रमण है; किन्तु निराश मत होइये। उठो, जागो, जब तक उस चरम लक्ष्य में पहुँच नहीं रहे, उतने दिन क्षान्त मत होना।”*

अतएव ज्ञानी का ध्यान किस प्रकार हुआ? ज्ञानी देह मन विषयक सब प्रकार की चिन्ता को पार करना चाहते हैं। वे देह जो हैं, इस धारणा को दूर कर देना चाहते हैं। दृष्टान्तस्वरूप देखिये, ज्यों ही हम कहते हैं, हम अमुक स्वामी हैं, उसी क्षण देह का भाव

* ‘उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गं पथःस्तत् कवयो वदन्ति।’

कठ उपनिषद्, १।३।१५

धर्मविज्ञान

आ जाता है। तब क्या करना होगा? मन पर बलपूर्वक आघात करके कहना होगा 'हम देह नहीं हैं, हम आत्मा हैं।' रोग ही आये अथवा अत्यन्त भयावह आकार में मृत्यु आकर ही उपस्थित हो, कौन चिन्ता करता है? हम देह नहीं हैं। देह को सुन्दर रखने का यत्न क्यों है? यह माया, यह भ्रान्ति हमारे सम्भोग के लिए है? इस दासत्व को सुरक्षित रखने के लिए? देह जाये, हम देह नहीं हैं। यही ज्ञानी की साधनाप्रणाली है। भक्त कहते हैं, "प्रभु ने हमें इस जीवनसमुद्र को सहज ही लाँघने के लिए यह देह दी है, अतएव जितने दिनों तक यात्रा शेष नहीं होती, उतने दिनों तक इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी होगी। योगी कहते हैं, "हमें देह का यत्न अवश्य ही करना होगा, जिससे हम धीरे धीरे साधनापथ पर आगे बढ़ कर परिणाम में मुक्तिलाभ कर सकें।" ज्ञानी सोचते हैं, हम अधिक विलम्ब कर नहीं सकते। हम इसी मुहूर्त चरम लक्ष्य में पहुँचेंगे। वे कहते हैं, "हम नित्यमुक्त हैं, किसी काल में ही हम बद्ध नहीं हैं; हम अनन्त काल से इस जगत के ईश्वर हैं। हमें तब पूर्ण कौन करेगा? हम नित्य पूर्णस्वरूप हैं।" जब कोई मानव स्वयं पूर्णता को प्राप्त होता है तब वह दूसरे में भी पूर्णता देखने लगता है। लोग जब दूसरे में अपूर्णता देखते हैं तब यह समझना होगा कि अपने निज के मन की छाप दूसरे पर पड़ने के कारण ही वे इस प्रकार देखते हैं। उनके निज के भीतर यदि अपूर्णता न रहे, तो वे किस प्रकार अपूर्णता देखेंगे। अतएव ज्ञानी पूर्णता अपूर्णता कुछ भी ग्राह्य नहीं करते। उनके पक्ष में उनमें से किसी का भी अस्तित्व नहीं है। ज्यों ही वे मुक्त होते हैं, वे

फिर भला बुरा नहीं देखते । भला बुरा कौन देखता है ! जिसके निज के भीतर भला बुरा है । दूसरे की देह कौन देखता है ? जो अपने को देह समझता है । जिस मुहूर्त आप देहभावरहित होंगे उस मुहूर्त ही फिर आप जगत नहीं देखने पायेंगे । वह चिरदिन के लिए अन्तर्हित हो जायेगा । ज्ञानी केवल विचारजनित सिद्धान्त के बल से इस जड़-बन्धन से अपने को विच्छिन्न करते हैं । यही 'नेति' 'नेति' मार्ग है ।

छठवाँ अध्याय

आत्मा का एकत्व

पहले की वक्तृता में जिस सिद्धान्त में पहुँचा गया है, उसे एक दृष्टान्त के द्वारा दृढ़तर करने के लिए हम एक उपनिषद्* से कुछ पाठ करके सुनायेंगे। उससे आप देखियेगा, अति प्राचीन काल से भारत में किस प्रकार इन सब तत्वों की शिक्षा दी जाती थी।

याज्ञवल्क्य नामक एक महर्षि थे। आप लोग अवश्य जानते हैं कि, भारत में इस प्रकार का नियम था कि, वृद्धावस्था प्राप्त होने पर सब को ही संसार त्याग करना होगा। इसलिए याज्ञवल्क्य अपना संन्यास ग्रहण करने का समय उपस्थित होने पर अपनी स्त्री से बोले,—

“ प्रिये मैत्रेयी, हम संसार त्याग करके चले, यह हमारा जो कुछ अर्थ, हमारी जो विषय सम्पत्ति है, उसे समझ लो। ”

मैत्रेयी ने कहा, “ भगवन्, यदि मैं धनरत्न से पूर्ण समग्र पृथ्वी प्राप्त करूँ, तो उसके द्वारा क्या मैं अमृतत्व प्राप्त करूँगी ? ”

याज्ञवल्क्य बोले, “ नहीं, यह हो नहीं सकता। धनी व्यक्ति

* बृहदारण्यक उपनिषद् का २ य अध्याय, ४ र्थ ब्राह्मण तथा ४ र्थ अध्याय ५ म ब्राह्मण देखिये। प्रस्तुत अध्याय का प्रायः समस्त इन दोनों अंशों का भावानुवाद और व्याख्यामात्र है।

जिस प्रकार का जीवन व्यतित करते हैं, तुम्हारा जीवन भी उसी प्रकार का होगा; क्योंकि, धन के द्वारा कदापि अमृतत्व लाभ नहीं होता।”

मैत्रेयी बोली, “जिसके द्वारा मैं अमृतत्व प्राप्त कर सकूँ, उसे लाभ करने के लिए मुझे क्या करना होगा? यदि वह आप जानते हों तो, वह मुझे बताइये।”

याज्ञवल्क्य बोले, “तुम सदा ही हमारी प्रिय थीं, इस क्षण यह प्रश्न करने के कारण तुम प्रियतर हुई। आओ, आसन ग्रहण करो, हम तुम्हारे सम्मुख तुम्हारे जिज्ञासित तत्व की व्याख्या करते हैं। तुम उसे सुनकर उसका ध्यान करती रहो।”

याज्ञवल्क्य ने कहना आरम्भ किया—

“हे मैत्रेयि! स्त्री जो स्वामी से प्रेम करती है, वह स्वामी के लिए नहीं है, किन्तु आत्मा के लिए ही स्त्री स्वामी से प्रेम करती है; क्योंकि वह आत्मा से प्रेम करती है। स्त्री से स्त्री के लिए कोई प्रेम नहीं करता, किन्तु जिस कारण वह आत्मा से प्रेम करता है, उसी कारण स्त्री से प्रेम करता है। कोई सन्तानगण से उनके लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु जिस कारण वह आत्मा से प्रेम करता है, उस कारण ही सन्तानगण को प्रेम किया करता है। कोई भी अर्थ से अर्थ के लिए अनुराग नहीं करता, किन्तु जिस कारण लोग आत्मा से अनुराग करते हैं, उसी कारण

धर्मविज्ञान

अर्थ से अनुराग किया करते हैं। ब्राह्मण से लोग जो अनुराग करते हैं, वह उस ब्राह्मण के लिए नहीं, किन्तु आत्मा से अनुराग करते हैं इसलिए ही लोग ब्राह्मण से अनुराग किया करते हैं। इस जगत से भी लोग जो अनुराग करते हैं, वह जगत के लिए नहीं, किन्तु जिस कारण वे आत्मा से प्रेम करते हैं, उसी कारण जगत उन्हें प्रिय है। देवगण से लोग जो अनुराग करते हैं, वह उन देवगण के लिए नहीं, किन्तु जिस कारण वे आत्मा से अनुराग करते हैं, उसी कारण देवगण उनके प्रिय हैं। अधिक क्या, किसी वस्तु से लोग जो अनुराग करते हैं वह उस वस्तु के लिए नहीं, किन्तु उसके भीतर जो आत्मा विद्यमान है, उसके लिए ही वे उस वस्तु से अनुराग करते हैं। अतएव इस आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करना होगा, उसके पश्चात् मनन अर्थात् विचार करना होगा, उसके पश्चात् निदिध्यासन अर्थात् उसका ध्यान करना होगा। हे मैत्रेयि, आत्मा के श्रवण, आत्मा के दर्शन, आत्मा के साक्षात्कार के द्वारा यह समग्र जो कुछ है, सब ज्ञात होता है।”

इस उपदेश का तात्पर्य क्या है ? यह एक अद्भुत प्रकार का दर्शन है। हम जगत शब्द से जो कुछ समझते हैं, सब के भीतर से ही आत्मा प्रकाशित हो रही है। लोग कहा करते हैं, सब प्रकार का प्रेम ही स्वार्थपरता है—स्वार्थपरता का जितना अधिक निष्कृतम अर्थ हो सकता है उस अर्थ में समस्त प्रेम ही स्वार्थपरता से उत्पन्न है; जिस कारण हम अपने से प्रेम करते हैं, उसी कारण दूसरे से

प्रेम किया करते हैं। वर्तमान काल में भी अनेक दार्शनिक हैं, जिनका मत यह है कि, 'स्वार्थ ही जगत् में सब कार्यों की एकमात्र प्रवृत्तिदायिनी शक्ति है।' यह बात एक हिसाब से सत्य है, तथा अन्य हिसाब से असत्य। यह हमारा 'हम' उस प्रकृत 'हम' अथवा आत्मा की छाया मात्र है, जो हमारे पश्चात् विद्यमान है। तथा ससीम होने के कारण ही इस क्षुद्र 'हम' के प्रति प्रेम, अन्याय और बुरा प्रतीत होता है। समग्र ब्रह्माण्ड-स्वरूप आत्मा के प्रति जो प्रेम है, वही स्वार्थपरता के समान प्रतीत होता है। क्योंकि वह ससीम भाव से दिखाई पड़ रहा है। यहाँ तक कि, स्त्री भी जब स्वामी से प्रेम करती है, वह जाने या न जाने, वह उस आत्मा के लिए ही स्वामी से प्रेम कर रही है। जगत् में वह स्वार्थपरता के रूप में व्यक्त तो हो रहा है, किन्तु वास्तव में वह आत्मपरता अथवा आत्मप्रीति का क्षुद्र अंशमात्र है। ज्यों ही कोई किसी से प्रेम करता है, उसे उस आत्मा के माध्यम से ही प्रेम करना होता है।

इस आत्मा को जानना होगा। जो आत्मा का स्वरूप जाने बिना उससे प्रेम करते हैं, उनका प्रेम ही स्वार्थपरता है। जो लोग आत्मा का परिचय पाकर उससे प्रेम करते हैं, उनके प्रेम में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है, वे साधु हैं। कोई भी ब्राह्मण से ब्राह्मण के लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु ब्राह्मण के माध्यम के द्वारा जो आत्मा प्रकाशित हो रही है, उस आत्मा से प्रेम करने के कारण ही वह ब्राह्मण से प्रेम करता है।

धर्मविज्ञान

“ब्राह्मण उन्हें परित्याग करते हैं जो ब्राह्मण को आत्मा से पृथक् देखते हैं; क्षत्रिय उन्हें परित्याग करते हैं, जो क्षत्रिय को आत्मा से पृथक् देखते हैं; लोकसमूह अथवा जगत उन्हें परित्याग करता है, जो जगत को आत्मा से पृथक् देखते हैं; देवगण उन्हें परित्याग करते हैं, जो देवगण को आत्मा से पृथक् रूप में विश्वास करते हैं। × × × सब वस्तुएँ उन्हें परित्याग करती हैं, जो उन सब को आत्मा से पृथक् रूप से देखते हैं। यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह लोकसमूह, ये देवगण, × × × यहाँ तक कि, जो कुछ जगत में है, सब ही आत्मा है।”

इस प्रकार ही याज्ञवल्क्य ने, प्रेम के अर्थ में वे जो लक्ष्य कर रहे थे, समझाया। ज्यों ही हम इस प्रेम को एक विशेष प्रदेश में सीमाबद्ध करते हैं, त्यों ही गोलमाल होता है। मान लीजिये, हम किसी नारी से प्रेम कर रहे हैं, यदि हम उस नारी को आत्मा से पृथक् भाव से देखते हैं, विशेष भाव से देखते हैं, तो वह फिर नित्यस्थायी प्रेम नहीं हुआ, वह स्वार्थगत प्रेम हो गया, तथा दुःख ही उसका परिणाम है; किन्तु ज्यों ही हम उस स्त्री को आत्मारूप में देख पाते हैं त्यों ही वह प्रेम यथार्थ प्रेम हुआ, उसका कभी विनाश नहीं है। इसी प्रकार ज्यों ही आप समग्र जगत अथवा आत्मा से पृथक् करके जगत की किसी एक वस्तु के प्रति आसक्त होते हैं, त्यों ही उसमें प्रतिक्रिया आने लगती है। आत्मा के अतिरिक्त जिस किसी से हम प्रेम करते हैं, उसका ही फल शोक और दुःख है। किन्तु यदि हम समग्र वस्तुओं

को आत्मा के अन्तर्गत सोचकर अथवा आत्मा-स्वरूप में सम्भोग करें, तो फिर किसी कष्ट अथवा प्रतिक्रिया का आविर्भाव नहीं होगा। यही पूर्ण आनन्द है।

इस आदर्श में उपनीत होने का उपाय क्या है ? याज्ञवल्क्य उस अवस्था को लाभ करने की प्रणाली बता रहे हैं। यह ब्रह्माण्ड अनन्त है; आत्मा को जाने बिना जगत की प्रत्येक विशेष विशेष वस्तु को लेकर उनमें आत्मदृष्टि किस प्रकार करेंगे ?

“यदि दुन्दुभि बजती रहे, तो हम उसमें से उत्पन्न शब्द-लहरियों को पृथक् भाव से ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु दुन्दुभि की साधारण ध्वनि अथवा आघात से उठे ध्वनिसमूह के ग्रहण कर लेने पर वह विभिन्न शब्दलहरी भी ग्रहीत हो जाती है।

“शङ्ख बजने पर हम उसकी सुरलहरी पृथक् पृथक् भाव से ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु शङ्ख की साधारण ध्वनि अथवा विभिन्न भाव से बजती हुई शब्दराशि गृहीत होने पर वे शब्दलहरियाँ भी गृहीत हो जाती हैं।

“वीणा बजते रहने पर उसके विभिन्न स्वरग्राम पृथक् भाव से गृहीत नहीं होते, किन्तु वीणा का साधारण सुर अथवा विभिन्न रूप से उठा हुआ सुरसमूह गृहीत होने पर वे स्वरग्राम-समूह भी गृहीत हो जाते हैं।

“जैसे किसी के भीगी लकड़ी जलाते रहने पर उससे अनेक प्रकार का धूँ फैलता है तथा अनेक प्रकार के अग्निकण निकलते

धर्मविज्ञान

हैं, उसी प्रकार उस महान् पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनु-व्याख्या तथा व्याख्या ये निःश्वास के समान बहिर्गत होते हैं। यह समस्त ही उनके निःश्वासस्वरूप है।

“जैसे समस्त जल का एकमात्र आश्रय समुद्र है, जैसे समस्त स्पर्श का त्वक् ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त गन्ध की नासिका ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त रस की जिह्वा ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त रूप का आँखें ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त वाक्य का वागिन्द्रिय ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त शब्द का कान ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त चिन्ता का मन ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त ज्ञान का हृदय ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समस्त कर्म का हाथ ही एकमात्र आश्रय है, जैसे समुद्र के जल के सर्वांश में लवण व्याप्त है, तथापि वह आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार है भैत्रेयि, इस आत्मा को आँखों से देखा नहीं जा सकता, किन्तु वह इस जगत के सर्वांश में व्याप्त है। वह सब है। वह विज्ञानघनस्वरूप है। समस्त जगत का उत्थान उससे होता है; और पुनः उसमें ही चला जाता है, क्योंकि उसके निकट पहुँचने पर हम ज्ञानातीत अवस्था में चले जाते हैं।”

यहाँ हमने यह भाव पाया कि हम सब ही स्फुलिङ्ग के आकार में उससे बहिर्गत हुए हैं और उसे जान सकने पर उसके ही निकट लौट जा कर उसके सहित एक हो जाते हैं।

इस उपदेश से मैत्रेयी डरी, जिस प्रकार सब कहीं लोग डरते हैं ।

मैत्रेयी बोली, “भगवन्, आपने यहाँ मेरा मस्तक विभ्रमित कर दिया । देवता आदि उस अवस्था में नहीं रहेंगे, ‘हम’ का ज्ञान नष्ट हो जायगा, यह कह कर आप मुझमें भय उत्पन्न कर रहे हैं । जब मैं उस अवस्था में पहुँचूँगी, तब क्या मैं आत्मा को जान सकूँगी ? मैं अहंज्ञान खो कर अज्ञान अवस्था को प्राप्त होऊँगी, अथवा मैं उस जानती हूँ, यह ज्ञान रहेगा ? उस समय क्या किसी को भी जानने को, कुछ अनुभव करने को, किसी से भी प्रेम करने को, किसी से भी घृणा करने को शेष नहीं रहेगा ?”

याज्ञवल्क्य बोले, “मैत्रेयी, तुम मत समझना कि हम मोहजनक बात कर रहे हैं, तुम भयभीत मत होओ । यह आत्मा अविनाशी है, वह स्वरूपतः नित्य है, जिस अवस्था में दो रहते हैं अर्थात् जो द्वैतावस्था है, वह निम्नतर अवस्था है । जहाँ द्वैतभाव रहता है, वहाँ एक व्यक्ति दूसरे को सूँघता है, एक व्यक्ति दूसरे का दर्शन करता है, एक व्यक्ति दूसरे को श्रवण करता है, एक व्यक्ति दूसरे की अभ्यर्थना करता है, एक व्यक्ति दूसरे के सम्बन्ध में चिन्ता करता है, एक व्यक्ति दूसरे को जानता है । किन्तु जब सब ही आत्मा हो जाता है, तब कौन किसको सूँघेगा, कौन किसे देखेगा, कौन किसको सुनेगा, कौन किसकी अभ्यर्थना करेगा, कौन किसको जानेगा ? जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे कौन जान सकता है ? इस आत्मा का केवल ‘नेति नेति’ (यह नहीं, यह नहीं) इसी

धर्मविज्ञान

रूप में वर्णन किया जा सकता है। वह अचिन्त्य है, उसकी बुद्धि के द्वारा धारणा नहीं की जा सकती। वह अपरिणामी है, उसको कभी क्षय नहीं होता। वह अनासक्त है, कभी प्रकृति के सहित मिश्रित नहीं होती। वह पूर्ण है, समस्त सुख-दुःख के अतीत। विज्ञाता को कौन जान सकता है? किस उपाय से उसे हम जान सकते हैं? कोई उपाय ही नहीं है। हे मैत्रेयी, यही ऋषिगण का चरम सिद्धान्त है। समस्त ज्ञान की अतीत अवस्था में जाने पर ही उसका लाभ होता है। तब ही अमृतत्व लाभ होता है।”

यहाँ तक यह भाव प्राप्त हुआ कि, यह समस्त ही एक अनन्त पुरुष है और उसमें ही हमारा यथार्थ अहं है—वहाँ कोई भाग अथवा अंश नहीं है, सकल भ्रमात्मक निम्नभाव कुछ भी नहीं है। किन्तु तथापि इस क्षुद्र अहं के भीतर आदि से अन्त तक वही अनन्त यथार्थ अहं प्रतिभात हो रहा है। सब ही आत्मा की अभिव्यक्ति मात्र है। किस प्रकार हम इस आत्मा को लाभ करेंगे? याज्ञवल्क्य ने आरम्भ में ही हम सब से कहा है कि ‘पहले इस आत्मा के सम्बन्ध में सुनना होगा। उसके बाद विचार करना होगा, उसके बाद उसका ध्यान करना होगा।’ यहाँ तक उन्होंने आत्मा का इस जगत की सब वस्तुओं के साररूप में वर्णन किया है। तत्पश्चात् उस आत्मा के अनन्त स्वरूप और मानव-मन के सान्तभाव के सम्बन्ध में विचार करके वे इस सिद्धान्त को प्राप्त हुए कि, सकल की ज्ञाता आत्मा को सीमाबद्ध मन के द्वारा जानना असम्भव है। तब यदि इस आत्मा को जाना नहीं जा सकता, तो

क्या करना होगा ? याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से बोले, “यद्यपि आत्मा को जाना नहीं जाता, तथापि उसे उपलब्ध किया जा सकता है।” इसलिये उसका किस प्रकार ध्यान करना होगा, इस विषय में उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया। यह जगत सब प्राणियों का ही कल्याणकारी है एवं प्रत्येक प्राणी ही जगत का कल्याणकारी है; क्योंकि दोनों ही परस्पर के अंशीभूत हैं—एक की उन्नति दूसरे की उन्नति की सहायता करती है। किन्तु स्वप्रकाश आत्मा का कल्याणकारी अथवा साहाय्यकारी कोई नहीं हो सकता, क्योंकि वह पूर्ण और अनन्तस्वरूप है। जगत में जो कुछ आनन्द है, यहाँ तक कि अत्यन्त निम्नस्तर का आनन्द तक इनका ही प्रतिबिम्बमात्र है। जो कुछ सुन्दर है, सब ही उस आत्मा का प्रतिबिम्बमात्र है, और यह प्रतिबिम्ब जब अपेक्षाकृत अस्पष्ट होता है, तब उसे ही बुरा कहा जाता है। जब यह आत्मा कम अभिव्यक्त होती है, तब उसे तमः अथवा बुरा कहते हैं, जब अधिकतर अभिव्यक्त होती है, तब उसे प्रकाश अथवा अच्छा कहते हैं। यही केवल प्रभेद है। भला, बुरा केवल मात्रा का तारतम्य है—आत्मा की अल्प अधिक अभिव्यक्ति लेकर। हमारे निज के जीवन का दृष्टान्त ही लीजिये। बाल्य-वय में कितनी वस्तुओं को हम अच्छा समझते हैं, वास्तव में वे बुरी हैं; और कितनी वस्तुओं को बुरे रूप में देखते हैं, वास्तव में वे अच्छी हैं। हमारी धारणा का कैसा परिवर्तन होता है। एक भाव किस प्रकार उच्च से उच्चतर होता रहता है। हम एक समय जिसे बहुत सुन्दर समझते थे, अब फिर हम उसे उतनी सुन्दर नहीं मानते। इसी प्रकार भलाबुरा हमारे मन के विकास

धर्मविज्ञान

के ऊपर निर्भर करता है, बाहर उनका अस्तित्व नहीं है। प्रभेद केवल मात्रा के तारतम्य में है। सब ही उस आत्मा का ही प्रकाशमात्र है। वह सब में ही प्रकाशित हो रही है, केवल उसका प्रकाश अल्प होने पर हम उसे बुरा कहते हैं और स्पष्टतर होने पर अच्छा कहते हैं। किन्तु आत्मा स्वयं शुभ अशुभ के अतीत है। अतएव जगत में जो कुछ है, सब का ही पहले अच्छा कह कर ध्यान करना होगा, क्योंकि वे उसी पूर्णस्वरूप की अभिव्यक्ति हैं। वे भली भी नहीं हैं, बुरी भी नहीं हैं, वे पूर्ण हैं और पूर्ण वस्तु केवल एक ही हो सकती है। भली वस्तुएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, बुरी भी अनेक रह सकती हैं, भले-बुरे में प्रभेद की अनेक प्रकार की मात्राएँ रह सकती हैं, किन्तु पूर्ण वस्तु केवल एक मात्र है; वह पूर्ण वस्तु विशेष विशेष प्रकार के आवरणों में से होकर दिखाई पड़ने पर हम उसे विभिन्न मात्राओं में अच्छी कह कर अभिहित करते हैं, अन्य प्रकार के आवरण के मध्य से उसके प्रकाशित होने पर उसे हम बुरा कहते हैं। यह वस्तु सम्पूर्ण रूप से अच्छी है और वह सम्पूर्ण रूप से बुरी है—इस प्रकार की धारणा कुसंस्कारमात्र है। वास्तव में यहाँ तक ही कहा जाता है कि, यह वस्तु अधिक अच्छी है और यह वस्तु कम अच्छी है, तथा कम अच्छे को ही हम बुरा कहते हैं। भले-बुरे के सम्बन्ध में इन सब भ्रान्त धारणाओं ने ही सब प्रकार के द्वैत भ्रम का प्रसव किया है। वे सब युगों के नरनारी के विभीषिकाप्रद भावरूप में मानवजाति के हृदय में दृढ़ रूप से निबद्ध हो गयी हैं। हम जो दूसरे से घृणा करते हैं, उसका कारण शैशव काल से अभ्यस्त ये सब निर्बोध-जनोचित

धारणायें हैं। मानवजाति के सम्बन्ध में हमारा विचार सम्पूर्ण रूप से भ्रान्तिपूर्ण हुआ है, हमने इस सुन्दर पृथिवी को नरक में परिणत किया है, किन्तु ज्यों ही हम भले-बुरे की इन भ्रान्त धारणाओं को छोड़ देंगे, त्यों ही यह स्वर्ग में परिणत होगी।

अब याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री को जो उपदेश दे रहे हैं, उसे सुना जाय।

“यह पृथिवी सब प्राणियों के पक्ष में मधु अर्थात् मिष्ट या आनन्दजनक है, सब प्राणी भी साथ ही इस पृथिवी के पक्ष में मधु हैं—दोनों ही परस्पर परस्पर की सहायता किया करते हैं। तथा इनका यह मधुरत्व उसी तेजोमय अमृतमय आत्मा से आरहा है।”

वही एक मधु अथवा मधुरत्व विभिन्न भाव से अभिव्यक्त हो रहा है।” जहाँ भी मानवजाति के भीतर किसी प्रकार का प्रेम अथवा मधुरत्व दिखाई पड़ता है, साधु में ही हो, पापी में ही हो, महापुरुष में ही हो अथवा हत्याकारी में ही हो, देह में हो, मन में हो अथवा इन्द्रिय में ही हो, वहीं वे विद्यमान हैं। उन्हीं एक पुरुष के अतिरिक्त वह और क्या हो सकता है? अत्यन्त निष्प्रतम इन्द्रिय-सुख भी वे हैं, साथ ही उच्चतम अ. . . आनन्द भी वे हैं। उनके अतिरिक्त मधुरत्व किसी में रह नहीं सकता। याज्ञवल्क्य यही कह रहे हैं। जब आप उस अवस्था में उपस्थित होइयेगा, जब सब वस्तुओं को समदृष्टि से देखियेगा, जब मद्यपी के मद्यपान की

धर्मविज्ञान

आसक्ति में और साधु के ध्यान में उसी एक मधुरत्व, एक आनन्द का प्रकाश देखियेगा, तब ही समझना होगा, आपने सत्य प्राप्त किया है। उस समय ही केवल आप समझियेगा, सुख किसे कहते हैं, शान्ति किसे कहते हैं, प्रेम किसे कहते हैं। किन्तु जितने दिनों तक आप यह वृथा भेदज्ञान रखियेगा, मूर्ख प्रमत्त के समान लड़कपन और कुसंस्कार के भाव रखियेगा, उतने दिन आपको सब प्रकार का दुःख प्राप्त होगा। वह तेजोमय अमृतमय पुरुष ही समग्र जगत की भित्ति-स्वरूप उनके पश्चात् विद्यमान हैं—सब ही उनके मधुरत्व की अभिव्यक्ति मात्र है। यह देह भी मानो क्षुद्र ब्रह्माण्ड-स्वरूप है—तथा इस देह की समस्त शक्तियों के भीतर से होकर, मन के सब प्रकार के उपभोग के मध्य से वे ही तेजोमय पुरुष प्रकाशित हो रहे हैं। देह में वे ही जो तेजोमय स्वप्रकाश पुरुष विद्यमान हैं, वही आत्मा है। “यह जगत सकल प्राणियों के पक्ष में ऐसा मधुमय है एवं सब प्राणी ही उसके निकट मधुमय हैं;” क्योंकि, वे ही तेजोमय अमृतमय पुरुष इस समग्र जगत के आनन्दस्वरूप हैं। हमारे मध्य भी वे आनन्दस्वरूप हैं। वे ही ब्रह्म हैं।

“यह वायु सकल प्राणियों के पक्ष में मधुस्वरूप है और इस वायु के निकट भी सकल प्राणी मधुस्वरूप हैं; क्योंकि, वे ही तेजोमय अमृतमय पुरुष वायु में भी विद्यमान हैं और देह में भी विद्यमान हैं। वे सकल प्राणियों के प्राणरूप में प्रकाश पा रहे हैं।”

“यह सूर्य सकल प्राणियों के पक्ष में मधुस्वरूप है एवं इस

सूर्य के पक्ष में भी सकल प्राणी मधुस्वरूप हैं; क्योंकि, वे तेजोमय पुरुष सूर्य में विद्यमान हैं एवं उनका ही प्रतिबिम्ब क्षुद्र क्षुद्र ज्योतिरूप में प्रकाशित हो रहा है। समस्त ही उनके प्रतिबिम्ब कं अतिरिक्त और क्या हो सकता है? वे हमारे देह में भी विद्यमान हैं एवं उनके ही उस प्रतिबिम्ब-बल से हम आलोक-दर्शन में समर्थ हो रहे हैं।”

“यह चन्द्र सकल प्राणी के पक्ष में मधुस्वरूप हैं, साथ ही इस चन्द्र के पक्ष में सकल प्राणी मधुस्वरूप हैं; क्योंकि, तेजोमय अमृतमय पुरुष, जो चन्द्र के अन्तरात्मा-स्वरूप हैं, वे ही हमारे भीतर मनरूप में प्रकाशित हो रहे हैं।”

“यह विद्युत् सब प्राणियों के पक्ष में मधुस्वरूप है, सब प्राणी भी विद्युत् के पक्ष में मधुस्वरूप हैं; क्योंकि वे तेजोमय अमृतमय पुरुष विद्युत् के आत्मास्वरूप हैं, साथ ही वे हमारे मध्य भी विद्यमान हैं, क्योंकि, सब ही वे ही ब्रह्म हैं।”

“वही ब्रह्म, वही आत्मा सब प्राणियों का राजा है।”

ये सब भाव मनुष्य के पक्ष में अत्यन्त उपकारी हैं; इन सब का उपदेश ध्यान के लिए दिया गया है। दृष्टान्तस्वरूप—पृथिवी का ध्यान करते रहिये, पृथिवी की चिन्ता कीजिये, साथ ही साथ यह भी सोचिये कि, पृथिवी में जो है, हमारी देह में भी वही है। चिन्ताबल से पृथिवी और देह को एक कर लीजिये और देह के भीतर की आत्मा के सहित पृथिवी के अभ्यन्तरवर्ती आत्मा का अभिन्न भाव साधन कीजिये।

धर्माधिज्ञान

वायु को वायु के अभ्यन्तरवर्ती और अपनी अभ्यन्तरवर्ती आत्मा के सहित चिन्ता कीजिये । इसी प्रकार ये सब ध्यान किये जाते हैं । यह सब ही एक है, विभिन्न आकार में प्रकाशित मात्र हो रहा है । सकल ध्यानों का ही चरम लक्ष्य—इस एकत्व की उपलब्धि करना है, और याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को यही समझाने का यत्न किया था ।

सातवाँ अध्याय

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

आज की वक्तृता से ही इस सांख्य और वेदान्त विषय की वक्तृताएँ समाप्त होंगी, अतएव मैं इन कुछ दिनों से जो समझाने का यत्न कर रहा था, आज संक्षेप में उसको फिर से दुहरायेँगे। वेद और उपनिषद् में हम हिन्दुओं के अति प्राचीन धर्मभाव में से अनेक का वर्णन पाते हैं। और महर्षि कापिल अत्यन्त प्राचीन तो हैं, किन्तु ये सब भाव उनकी अपेक्षा भी प्राचीनतर हैं। कपिल का सांख्यदर्शन उनसे ही उद्भावित नूतन मतवादविशेष नहीं है। उनके समय में धर्म के सम्बन्ध में जो सब विभिन्न मतवादसमूह प्रचलित थे, उन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से उनसे एक युक्तिसङ्गत और सामञ्जस्यमय प्रणाली गठित करने का यत्न मात्र किया है। वे भारतवासियों के सम्मुख जिस मनोविज्ञान का प्रचार करने में कृतकार्य हुए थे, उसे आज भी हिन्दुओं में से विभिन्न आश्रमचिरेन्धी दार्शनिक सम्प्रदायसमूह मानते हैं। उनके पश्चात् के कोई भी दार्शनिक आज तक उनके मानव मन के अपूर्व विश्लेषण एवं ज्ञानलाभ की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तारित सिद्धान्त से ऊपर जा नहीं सके, तथा वे निस्सन्देह अद्वैतवाद की मिति स्थापित कर गये हैं। वह—वे जितनी दूर तक सिद्धान्त में अग्रसर हुए थे—उसे ग्रहण करके और एक पद अग्रसर हुआ। इस प्रकार

धर्मविज्ञान

सांख्यदर्शन के अन्तिम सिद्धान्त द्वैतवाद को छोड़ कर वह चरम एकत्व में पहुँचा।

कपिल के समय के पहले भारत में जो सब धर्मतत्त्व प्रचलित थे (हम अवश्य परिचित और प्रसिद्ध धर्मतत्त्वों को लक्ष्य करके कह रहे हैं, धर्म कहलाने के अयोग्य, अत्यन्त निम्न धारणाओं को दृष्टि में रख कर नहीं), सब में हम देख पाते हैं कि, उनमें प्राथमिक श्रेणियों के भीतर भी प्रत्यादेश, ईश्वर से आदिष्ट शास्त्र आदि की धारणा थी। अति प्राचीन अवस्था में सृष्टि की धारणा अत्यन्त विचित्र थी—वह यह है कि समग्र जगत ईश्वर की इच्छा के कारण शून्य से सृष्ट हुआ है, आदि में इस जगत का अस्तित्व ही नहीं था तथा उसी अभाव अथवा शून्य से ही यह सब आया है। परवर्ती सोपान में हम देख पाते हैं, इस सिद्धान्त में सन्देह प्रकाशित किया जाता है। वेदान्त के प्रथम सोपान में ही यह प्रश्न देखने को मिलता है, असत् से सत् की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है? यदि यह जगत सत् अर्थात् अस्तित्वयुक्त हो, तो यह अवश्य किसी वस्तु से आया है। ये प्राचीन व्यक्ति सहज ही देख सके कि कहीं भी ऐसा कुछ नहीं है, जो 'कुछ न' से उत्पन्न हो रहा हो। मनुष्य के हाथ के द्वारा जो कुछ कार्य होता है, उसमें भी तो उपादानकारण का प्रयोजन है। अतएव प्राचीन हिन्दूगण ने स्वभावतः ही यह जगत जो शून्य से सृष्ट हुआ है, इस प्रथम धारणा को त्याग दिया, तथा इस जगतसृष्टि का कारणीभूत उपादान क्या है, उसके अन्वेषण में

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

प्रवृत्त हुए। वास्तव में समस्त जगत को धर्म का इतिहास—कहाँ से इन सब की उत्पत्ति हुई, इस प्रश्न के उत्तर देने के यत्न में उपादानकारण का अन्वेषण मात्र है। निमित्तकारण अथवा ईश्वर के विषय के अतिरिक्त, ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि की है अथवा नहीं, इस प्रश्न के अतिरिक्त, चिरकाल ही यह महा प्रश्न जिज्ञासित हुआ है—ईश्वर ने कौन सा उपादान ले कर इस जगत की सृष्टि की ? इस प्रश्न के उत्तर के ऊपर ही विभिन्न दर्शन निर्भर करते हैं।

एक सिद्धान्त यह है कि, यह उपादान एवं ईश्वर और आत्मा, तीनों ही नित्यवस्तु हैं—ये मानो तीन समानान्तर रेखाओं के समान अनन्तकाल के लिए निकट निकट चल रही हैं—उनमें से प्रकृति और आत्मा को वे स्वतन्त्र तत्व एवं ईश्वर को स्वतन्त्र तत्व अथवा पुरुष कहते हैं। प्रत्येक जड़ परमाणु के समान प्रत्येक आत्मा ही ईश्वर की इच्छा के सम्पूर्ण अधीन है। जब कपिल ने योग-सूत्रों का प्रचार किया, उस समय पूर्वकाल से ही ये सब तथा अन्यान्य अनेक प्रकार की धर्मसम्बन्धीय धारणायें विद्यमान थीं। उस मनोविज्ञान के मतानुसार विषयानुभूति की प्रणाली यह है—प्रथमतः बाहर की वस्तु से घात अथवा इङ्गित प्रदान किये जाते हैं, जो इन्द्रियसमूह के सब भौतिक द्वारों को उत्तेजित करते हैं। जैसे पहले आँख आदि इन्द्रिय के द्वार में बाह्य विषय का आघात लगा, आँख आदि द्वार अथवा यंत्र से उन उन इन्द्रियों में, इन्द्रियसमूह से मन में, मन से बुद्धि में एवं बुद्धि से ऐसे एक पदार्थ में जाकर लगा, जो एक तत्त्वस्वरूप है—

धर्मविज्ञान

उसे वे आत्मा कहते हैं। आधुनिक शारीरविधान शास्त्र की आलोचना करने पर भी हम देख पाते हैं, उन्होंने सब प्रकार की विषयानुभूति के लिए विभिन्न केन्द्र हैं, यह आविष्कार किया है। प्रथमतः, निम्नश्रेणी के केन्द्रसमूह, द्वितीयतः, उच्चश्रेणी के केन्द्रसमूह और इन दोनों के साथ मन और बुद्धि के कार्य ठीक मिलते हैं, किन्तु उन्होंने ऐसा कोई केन्द्र नहीं पाया, जो अन्य सब केन्द्रों को नियमित कर रहा हो; इसलिए कौन इन सब केन्द्रों के एकत्व का विधान कर रहा है, शारीरविधान शास्त्र उसका उत्तर देने में अक्षम है। कहाँ एवं किस रूप में ये केन्द्र मिलते हैं। मस्तिष्क-केन्द्रसमूह सब ही पृथक् पृथक् हैं और ऐसा कोई केन्द्र नहीं है, जो अन्य सब केन्द्रों को नियमित कर रहा हो। अतएव यहाँ तक इस विषय में सांख्य मनोविज्ञान का प्रतिवादी कोई नहीं है। एक सम्पूर्ण वस्तु के गठन के लिए यह एकीभाव, जिस पर विषय की अनुभूतिसमूह प्रतिबिम्बित होंगी, आवश्यक है। वही न रहने पर हम आपका अथवा उस चित्र का अथवा किसी वस्तु का कोई ज्ञानलाभ नहीं कर सकते। यदि हमारे भीतर यह एकत्व-विनायक कुछ न रहता, तो हम या तो केवल देखने ही लगते, थोड़ी देर के पश्चात् सुनने लगते, थोड़ी देर के पश्चात् स्पर्श अनुभव करने लगते, तथा ऐसा होता कि एक व्यक्ति बात कर रहा है हम सुन रहे हैं, किन्तु उसे नाममात्र को भी देख नहीं पा रहे हैं, कारण केन्द्रसमूह भिन्न भिन्न हैं।

यह देह जड़ परमाणु से विरचित है तथा यह जड़ और अचेतन

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

है। जिसे सूक्ष्म शरीर कहा जाता है, वह भी इसी प्रकार का है। सांख्य-मतानुसार सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं के द्वारा गठित एक क्षुद्र शरीर है—उसके परमाणुसमूह इतने सूक्ष्म हैं कि, किसी प्रकार के अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी उन्हें देखा नहीं जा सकता। इस सूक्ष्म देह का प्रयोजन क्या है? वह हम जिसे मन कहते हैं, उसका आधारस्वरूप है। जैसे यह स्थूल शरीर स्थूलतर शक्तिसमूह का आधार है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर चिन्ता तथा उसके अनेक प्रकार के विकारस्वरूप सूक्ष्मतर शक्तिसमूह का आधार है। प्रथमतः यह स्थूल शरीर—यह स्थूल जड़ और स्थूल शक्तिमय है। शक्ति जड़ के बिना रह नहीं सकती, क्योंकि, वह केवल जड़ में से ही अपने को प्रकाशित कर सकती है। अतएव स्थूलतर शक्तिसमूह इस स्थूल शरीर के माध्यम से ही कार्य कर सकते हैं तथा अन्त में वे सूक्ष्मतर रूप धारण करते हैं। जो शक्ति स्थूल भाव से कार्य कर रही है वही सूक्ष्मतर रूप में कार्य करती रहती है तथा चिन्तारूप में परिणत होती है। उनमें परस्पर किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है, एक ही वस्तु का एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म प्रकाश मात्र है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में भी उपादानगत कोई भेद नहीं है। सूक्ष्म शरीर भी जड़ है, तथापि वह अत्यन्त सूक्ष्म जड़ है।

ये सब शक्तियाँ कहाँ से आ रही हैं? वेदान्त दर्शन के मत के अनुसार प्रकृति दो वस्तुओं से गठित है। एक को वे आकाश कहते हैं, वह अति सूक्ष्म जड़ है तथा दूसरे को वे प्राण कहते हैं।

धर्मविज्ञान

पृथिवी, वायु अथवा अन्य जो कुछ आप देखते हैं, सुनते हैं अथवा स्पर्श के द्वारा अनुभव करते हैं वही जड़ है और सब में इस आकाश का ही विभिन्न रूप मात्र है। वह, प्राण अथवा सर्वव्यापी शक्ति की प्रेरणा से कभी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता है, कभी स्थूल से स्थूलतर होता है। आकाश के समान प्राण भी सर्वव्यापी है, सब वस्तुओं में अनुस्यूत। आकाश मानो जल के समान है और जगत में जो कुछ है वह सब ही मानो बरफ के खण्ड के समान है, ये सब जल से उत्पन्न हो कर जल में ही तैर रहे हैं तथा प्राण ही वह शक्ति है जो आकाश को इस विभिन्न रूप में परिणत कर रही है।

यह देहयन्त्र—पैशिक गति अर्थात् भ्रमण, उपवेशन, वाग्यकथन आदि रूप में प्राण के स्थूल आकार में प्रकाशित होने के लिए आकाश से निर्मित हुआ है। सूक्ष्म शरीर भी उसी प्राण की, चिन्तारूप सूक्ष्म आकार में अग्नि-गति के लिए आकाश से—आकाश के सूक्ष्मतर रूप से—निर्मित हुआ है। अतएव पहले यह स्थूल शरीर, उसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर, उसके पश्चात् जीव अथवा आत्मा—यही मानव का यथार्थ स्वरूप है। जैसे हमारे नख वर्ष में सौ बार काट कर फेंके जा सकते हैं किन्तु वे हमारे शरीर के ही अंशस्वरूप हैं, उससे पृथक् नहीं हैं उसी प्रकार हमारा शरीर दो नहीं है। मनुष्य का एक सूक्ष्म शरीर और एक स्थूल शरीर है, ऐसा नहीं है। शरीर एक ही है तथापि सूक्ष्म आकार में वह स्थूल की अपेक्षा दीर्घ काल तक रहता है, तथा स्थूल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार हम

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

वर्ष में सौ बार ये नख काट कर फेंक सकते हैं, उसी प्रकार एक युग में हम लाख लाख स्थूल शरीर त्याग कर सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहेगा। द्वैतवादियों के मतानुसार यह जीव अर्थात् मनुष्य का यथार्थ स्वरूप जो है वह अणु अर्थात् अति सूक्ष्म है।

यहाँ तक हमने देखा, मनुष्य का पहले यह स्थूल शरीर है, जो अत्यन्त शीघ्र ध्वंस को प्राप्त होता है, उसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर है—वह युग-युगान्तर तक वर्तमान रहता है, उसके पश्चात् जीवात्मा है। वेदान्त-दर्शन के मतानुसार ईश्वर जिस प्रकार नित्य है यह जीव भी उसी प्रकार नित्य है तथा प्रकृति भी नित्य है; तथापि वह प्रवाहरूप में नित्य है। प्रकृति के उपादान स्वरूप आकाश और प्राण नित्य हैं, किन्तु अनन्तकाल से वे विभिन्न आकार में परिवर्तित हो रहे हैं। जड़ और शक्ति नित्य हैं, किन्तु उनका समवायसमूह सर्वदा परिवर्तनशील है। जीव, आकाश अथवा प्राण किसी से भी निर्भित नहीं है, वह अ-जड़ है, अतएव चिरकाल तत्र वह रहेगा। वह प्राण और आकाश के किसी प्रकार के संयोग के फलस्वरूप नहीं है, और जो संयोग का फल नहीं है वह कभी नष्ट नहीं होगा, कारण, विनाश का अर्थ संयोग का विश्लेषण है। जो कोई वस्तु यौगिक नहीं है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। स्थूल शरीर आकाश और प्राण के नाना रूप संयोग का फल है, इसलिए वह विश्लिष्ट हो जायगा। सूक्ष्म शरीर भी दीर्घ काल के पश्चात् विश्लिष्ट हो जायगा, किन्तु जीव अयोगिक पदार्थ है, इसलिए वह कभी ध्वंसप्राप्त

धर्मविज्ञान

नहीं होगा। पूर्वोक्त कारण से ही हम कह नहीं सकते कि, जीव का किसी काल में जन्म हुआ है। किसी अयोगिक पदार्थ का जन्म हो नहीं सकता, केवल जो योगिक है उसका ही जन्म हो सकता है।

लाख लाख प्रकार के आकार में मिश्रित यह समग्र प्रकृति ईश्वर की इच्छा के अधीन है। ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और निराकार है, एवं वह दिन रात इस प्रकृति को परिचालित करता है। समस्त प्रकृति ही उसके शासन के अधीन विद्यमान है। किसी प्राणी को स्वाधीनता नहीं है, वह हो ही नहीं सकती। ईश्वर ही शास्ता है। यही द्वैतवादात्मक वेदान्त का उपदेश है।

इसके पश्चात् यह प्रश्न आता है कि यदि ईश्वर इस जगत के शास्ता हैं तो उन्होंने क्यों ऐसे कुत्सित जगत की सृष्टि की? क्यों हम इतना कष्ट पायेंगे? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि, इसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं। हम अपने निज के दोष से ही कष्ट पाया करते हैं। हम जिस प्रकार का बीज बोते हैं उसी प्रकार का फल पाते हैं। ईश्वर हमें शास्ति देने के लिए कुछ नहीं करते। यदि कोई व्यक्ति दरिद्र, अन्ध अथवा खज्ज हो कर जन्मग्रहण करे तो, समझना होगा, उसने इस प्रकार जन्म लेने के पहले ऐसा कुछ किया था, जिसने इस फल का प्रसव किया है। जीव चिरकाल से वर्तमान है, वह कभी सृष्ट नहीं हुआ, वह चिरकाल से नाना प्रकार के कार्य कर रहा है तथा हम जो कुछ करते हैं, उसका ही फलभोग हमें करना होता है। यदि हम शुभ कर्म करेंगे

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

तो सुख लाभ करेंगे, अशुभ कर्म करने पर हमें दुःखभोग करना होगा। जीव स्वरूपतः शुद्धस्वभाव है। तथापि द्वैतवादी कहते हैं, अज्ञान ने उसके स्वरूप को आवृत किया है। जिस प्रकार असत् कर्म के द्वारा उसने अपने को अज्ञान में आवृत किया है उसी प्रकार शुभ कर्म के द्वारा वह अपना स्वरूप फिर से जान सकता है। जीव जिस प्रकार नित्य है उसी प्रकार शुद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपतः शुद्ध है। जब शुभ कर्मों के द्वारा उसके सब पाप और अशुभ कर्म धुल जाते हैं, तब जीव फिर शुद्ध होता है तथा जब वह शुद्ध होता है तब मृत्यु के पश्चात् देवयान पथ से स्वर्ग अथवा देवलोक में जाता है। यदि वह ऐसा ही सच्चरित्र, अच्छा व्यक्ति हुआ तो, वह पितृलोक में गमन करता है।

स्थूल देह का पतन होने पर वाक्येन्द्रिय मन में प्रवेश करती है। वाक्य के बिना चिन्ता नहीं की जा सकती; जहाँ वाक्य है वहाँ अवश्य चिन्ता विद्यमान है। मन फिर प्राण में लय होता है, और प्राण जीव में लय प्राप्त होता है। तब जीव देहत्याग करके अपने भूत जीवन के कर्म के फलस्वरूप जिस पुरस्कार अथवा दण्ड के उपयुक्त है उस अवस्था में गमन करता है। देवलोक का अर्थ देवगण का निवासस्थान है। देव शब्द का अर्थ उज्ज्वल अथवा प्रकाशस्वभाव है—ईसाई और मुसलमानगण जिन्हें एन्जिल (Angel) कहते हैं, देव शब्द से उनका ही बोध होता है। इनके मत के अनुसार—दान्ते ने अपनी 'डिवाइन कामेडी' (Divine Comedy)

धर्मविज्ञान

नामक पुस्तक में जिस प्रकार के नानाविध स्वर्गलोक का वर्णन किया है, अधिकांश उसके ही समान—नाना प्रकार के स्वर्ग लोक हैं, यथा—पितृलोक, देवलोक, चन्द्रलोक, विद्युलोक, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मलोक। ब्रह्मलोक ब्रह्मा का स्थान है। ब्रह्मलोक के अतिरिक्त अन्यान्य स्थान से जीव इहलोक में लौटकर पुनः नर-जन्म ग्रहण करता है, किन्तु जिन्हें ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, वे वहाँ अनन्त काल तक वास करते हैं। जो सकल श्रेष्ठतम मानव सम्पूर्णतः निःस्वार्थ तथा सम्पूर्णतः पवित्र हुए हैं, जिन्होंने समस्त वासनायें त्याग दी हैं, जो ईश्वर की उपासना तथा उनके प्रेम में निमग्न रहने के अतिरिक्त और कुछ भी करना नहीं चाहते, उनकी ही इस प्रकार की श्रेष्ठतम गति होती है। इनकी अपेक्षा किञ्चित् निम्न स्तर के द्वितीय श्रेणी के और एक दल के व्यक्ति हैं, वे शुभ कर्म तो करते हैं, किन्तु उसके लिए पुरस्कार की आकांक्षा करते हैं, वे इन शुभ कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग में जाना चाहते हैं। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके जीव चन्द्रलोक में जा कर स्वर्ग-सुख भोग करते रहते हैं। वहाँ वे एक देव होते हैं। देवगण अमर नहीं हैं, उन्हें भी मरना होता है। स्वर्ग में भी सब मरेंगे। मृत्युशून्य स्थान केवल ब्रह्मलोक है, वहीं केवल जन्म भी नहीं है, मृत्यु भी नहीं है। हमारे पुराणों में दैत्यगण का भी उल्लेख देखने को मिलता है, वे समय समय पर देवगण से विरोध करते हैं। सब देशों के पुराणों में ही इन देव-दैत्यों का संग्राम देखने को मिलता है। समय समय पर दैत्यगण देवगण के ऊपर जयलाभ किया करते हैं। सब पुराणों में यह भी

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

पाया जाता है कि देवगण को मानव जाति की सुन्दरी दुहितायें प्रिय हैं। देवरूप में जीव केवल अपने भूतकर्मों का फल भोग करते हैं, किन्तु कोई नया कर्म नहीं करते। कर्म का अर्थ जो सब कार्य फलप्रसव करते हैं, उन्हें भी व्यक्त करता है तथा फलसमूह को भी व्यक्त करता है। मनुष्य की जब मृत्यु होती है तथा जब वह देव होता है, तब वह केवल सुखभोग करता है, नूतन कोई कर्म नहीं करता। वह अपने अतीत शुभकर्म का पुरस्कार मात्र भोग करता है। किन्तु जब इस शुभ कर्म का फल समाप्त हो जाता है तब उसके अन्य कर्मफल प्रसवोन्मुख होते हैं।

वेद में नरक का कोई प्रसङ्ग नहीं है। किन्तु परवर्तीकाल में पुराणकार—हमारे परवर्तीकाल के धार्मिकभारत—ने सोचा था, नरक न रहने पर कोई धर्म ही सम्पूर्ण नहीं हो सकता, इसलिए उन्होंने नाना-विध नरक की कल्पना की। दान्ते ने अपने 'नरक' में जितने प्रकार के दण्ड देखे थे, इन्होंने उतने प्रकार के, यहाँ तक कि, उनकी अपेक्षा भी अधिक प्रकार की नरक-यन्त्रणाओं की कल्पना की। तथापि हमारे शास्त्र दया करके कहते हैं, यह दण्ड केवल कुछ काल के लिए है। उस अवस्था में अशुभ कर्मों का फल भोग कर लेने पर वह क्षय हो जाता है, तब जीवात्मागण पुनः पृथ्वी में आकर फिर एक बार उन्नति करने का अवसर पाते हैं। इस मानव-देह में ही मनुष्य उन्नति-साधन का विशेष सुयोग पाता है। इस मानव-देह को कर्मदेह कहते हैं, इस मानवदेह में ही हम अपना भविष्यत् अदृष्ट

धर्मविज्ञान

स्थिर किया करते हैं। हम एक बृहत्तृत् के आकार में भ्रमण कर रहे हैं, तथा मानवदेह ही उस तृत् के मध्य में एक बिन्दु है, जहाँ हमारी भविष्यत् अवस्था स्थिर होती है। इस कारण ही अन्यान्य सब प्रकार के देहों की अपेक्षा मानवदेह ही श्रेष्ठतम निर्दिष्ट की जाती है। मानव देवगण की अपेक्षा भी श्रेष्ठतर हैं। देवगण भी मनुष्य जन्म ग्रहण किया करते हैं। द्वैत वेदान्त यहाँ तक कहता है।

इसके पश्चात् वेदान्त-दर्शन का और एक उच्चतर भाव आता है—उसमें कहते हैं, ये सिद्धान्तसमूह सम्पूर्णतः समीचीन नहीं हैं। यदि कहिये ईश्वर भी अनन्त है, जीवात्मा भी अनन्त है एवं प्रकृति भी अनन्त है, तो इस प्रकार अनन्त की संख्या आप जितनी इच्छा हो बढ़ा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार अनेक अनन्त की कल्पना करना युक्ति विरुद्ध है, कारण ये अनेक 'अनन्त' परस्पर परस्पर का सङ्कोच करके प्रत्येक को ही समीम बना डालेंगे, वास्तव में अनन्त नाम का कुछ शेष नहीं रहेगा। अतएव इनका सिद्धान्त यह है कि, ईश्वर ही जगत का निमित्त और उपादान कारण हैं, उन्होंने अपने भीतर से यह जगत बाहर किया है। इसका अर्थ क्या यह है कि, ईश्वर ही यह दीवाल, यह टेबुल, यह पशु, हत्याकारी एवं जगत के अन्तर्गत अन्यान्य जितनी बुरी वस्तुएँ हैं, सब हुए हैं? ईश्वर शुद्धस्वरूप हैं, वे किस प्रकार ये सब बुरी वस्तुएँ हो सकते हैं? ये इस बात के उत्तर में कहते हैं, नहीं, वे नहीं हुए। ईश्वर अपरिणामी हैं, ये सब परिणाम प्रकृतिगत मात्र हैं—जैसे हम आत्मा हैं, तिस पर भी हमारी

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

यह विद्यमान है। एक अर्थ में यह देह हमसे पृथक् नहीं है,—किन्तु हम—यथार्थ हम कदापि देह नहीं हैं। हम कभी बालक, कभी युवा अथवा कभी वृद्ध होते रहते हैं, किन्तु उससे हमारी आत्मा का कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। वह वही जो आत्मा थी वही आत्मा रहती है। इस प्रकार प्रकृति एवं अनन्त आत्मा समन्वित यह जगत मानो ईश्वर का अनन्त शरीरस्वरूप है। वे इसके सर्वांश में ओतप्रोत भाव से विद्यमान हैं। वे ही एकमात्र अपरिणामी हैं, किन्तु प्रकृति परिणामी है तथा आत्मागण भी परिणामी हैं। प्रकृति का किस प्रकार का परिणाम होता है? प्रकृति का रूप अथवा आकार क्रमागत परिवर्तित हो रहा है, वह नूतन नूतन आकार ग्रहण कर रही है। किन्तु आत्माएँ सब इस प्रकार से परिणाम को प्राप्त नहीं हो सकतीं। उनका केवल ज्ञान का सङ्कोच अथवा विकास होता है। प्रत्येक आत्मा ही अशुभ कर्म के द्वारा सङ्कोच प्राप्त करती है। जिन सब कार्यों के द्वारा आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान तथा उसकी पवित्रता को सङ्कोच प्राप्त होता है, उन्हें ही अशुभ कर्म कहते हैं। जो सब कर्म पुनः आत्मा की स्वाभाविक महिमा प्रकाशित कर देते हैं, उन्हें ही शुभ कर्म कहा जाता है। सकल आत्माएँ ही शुद्धस्वभाव थीं, किन्तु अपने स्वतः के कार्य द्वारा सङ्कोच को प्राप्त हुई हैं। तथापि ईश्वर की कृपा एवं शुभ कर्म के अनुष्ठान के द्वारा वे पुनः विकासप्राप्त होंगी तथा पुनः शुद्धस्वरूप होंगी। प्रत्येक जीवात्मा को मुक्तिलाभ के समान सुयोग और सम्भावना प्राप्त हैं एवं काल में सब ही शुद्धस्वरूप हो कर प्रकृति के बन्धन से मुक्त होंगी। किन्तु तिस पर भी इस जगत का लोप नहीं होगा,

धर्मविज्ञान

क्योंकि वह अनन्त है। यही वेदान्त का द्वितीय प्रकार का सिद्धान्त है। प्रथमोक्त को द्वैतवेदान्त कहते हैं, तथा द्वितीयोक्त को—जिसके मतानुसार ईश्वर, आत्मा और प्रकृति हैं, तथा आत्मा और प्रकृति ईश्वर की देहस्वरूप हैं और ये तीनों मिल कर एक हैं—विशिष्टाद्वैत वेदान्त कहते हैं।

सर्वशेष तथा सर्वश्रेष्ठ मत अद्वैतवाद है। इस मत के अनुसार भी ईश्वर इस जगत के निमित्त और उपादान कारण दोनों ही हैं। इसलिए ईश्वर यह समग्र जगत हुए हैं। अद्वैतवादी—“ईश्वर आत्मास्वरूप हैं और जगत मानो उनकी देहस्वरूप है तथा उस देह का ही परिणाम हो रहा है”—विशिष्टाद्वैतवादी के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, तो फिर ईश्वर को इस जगत का उपादान कारण कहने का क्या प्रयोजन है? उपादान कारण का अर्थ है, जिस कारण ने कार्यरूप धारण किया है। कार्य कारण के रूपान्तर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जहाँ कहीं भी कार्य दिखाई पड़ता है, वहीं समझना होगा, कारण ही रूपान्तरित हो कर अवस्थान कर रहा है। यदि जगत कार्य हो, तथा ईश्वर कारण हो, तो यह जगत अवश्य ही ईश्वर का रूपान्तर मात्र है। यदि कहा जाय, जगत ईश्वर का शरीर है, तथा यह देह सङ्कोचप्राप्त होकर सूक्ष्म आकार धारण करके कारण बनी है तथा इसके पश्चात् पुनः उस कारण से जगत का विकास होता है, ऐसी स्थिति में अद्वैतवादी कहते हैं, ईश्वर स्वयं ही यह जगत

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

हुए हैं। इस क्षण एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रश्न आ रहा है। यदि ईश्वर यह जगत बन कर विद्यमान रहते हैं, तो सब ही ईश्वर है। अवश्य, सब ही ईश्वर है। हमारी देह भी ईश्वर है, हमारा मन भी ईश्वर है, हमारी आत्मा भी ईश्वर है। तो फिर इतने जीव कहाँ से आये ? ईश्वर क्या लाख लाख जीव के रूप में विभक्त हुए हैं ? वही अनन्त शक्ति, वही अनन्त वस्तु, जगत में वही एक सत्ता किस प्रकार विभक्त हो सकती है ? अनन्त को विभाजित करना असम्भव है। तब किस प्रकार वे शुद्ध स्वरूप यह जगत हुए ? यदि वे जगत होकर विद्यमान हैं, तो वे परिणामी हैं, तथा परिणामी होने के कारण ही वे प्रकृति के अन्तर्गत हैं, तथा प्रकृति के अन्तर्गत जो कुछ है, उसका ही जन्म-मरण है। यदि ईश्वर परिणामी हों, तो उनकी भी एक दिन मृत्यु होगी। यह स्मरण रखियेगा। अब और एक जिज्ञासा की बात यह है कि, ईश्वर के कितने अंश ये जगत बने हैं ? यदि कहिये, ईश्वर का 'क' अंश जगत बना है, तो ईश्वर इस समय ईश्वर ऋण 'क' हुए हैं; अतएव सृष्टि के पहले वे जो ईश्वर थे, अब वे ईश्वर नहीं रहे। कारण, उनका वह अंश जगत बन गया है। इस विषय में अद्वैतवादियों का उत्तर यह है कि, इस जगत की वास्तविक सत्ता नहीं है, जो है, वह केवल प्रतीत हो रही है। ये देवता, स्वर्ग, जन्ममृत्यु, अनन्तसंख्यक आत्माएँ, ये सब जो आ रहे हैं जा रहे हैं—ये सब ही केवल स्वप्नमात्र हैं। सब ही वही एक अनन्त-स्वरूप हैं। एक ही सूर्य विविध जलबिन्दुओं में प्रतिबिम्बित हो कर नाना रूप दिखा रहा है। लाख लाख जलकणों में लाख लाख

धर्मविज्ञान

सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा है तथा प्रत्येक जलकण में ही सूर्य की सम्पूर्ण प्रतिमूर्ति विद्यमान है; किन्तु सूर्य वास्तव में एक है। इन सब जीवगण के सम्बन्ध में भी यही बात है—वे उसी एक अनन्त पुरुष के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। स्वप्न कदापि सत्य के बिना रह नहीं सकता, और वह सत्य—वही एक अनन्त सत्ता है। शरीर, मन अथवा आत्मा भाव में मानने पर आप स्वप्नमात्र हैं, किन्तु आपका यथार्थ स्वरूप अखण्ड सच्चिदानन्द है। अद्वैतवादी यही कहते हैं। यह सब जन्म, पुनर्जन्म, यह आना जाना—यह सब उस स्वप्न का अंशमात्र है। आप अनन्तस्वरूप हैं। आप फिर कहाँ जाइयेगा ? सूर्य, चन्द्र एवं समग्र ब्रह्माण्ड आपके यथार्थ स्वरूप के सम्मुख एक बिन्दुमात्र है। आपका तब जन्म-मरण किस प्रकार होगा। आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होती, कभी मरेगी भी नहीं, आत्मा के किसी काल में माता-पिता, शत्रु-मित्र कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि, आत्मा अखण्ड सच्चिदानन्द-स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त के मतानुसार मानव का चरम लक्ष्य क्या है ? इस ज्ञान को लाभ करना तथा जगत के सहित एकत्व भाव की प्राप्ति। जो यह अवस्था लाभ करते हैं, उनके पक्ष में समस्त स्वर्ग, यहाँ तक कि, ब्रह्मलोक तक नष्ट हो जाता है, यह समस्त स्वप्न भङ्ग हो जाता है, तथा वे अपने को जगत के नित्य ईश्वर के रूप में देख सकते हैं। वे अपना यथार्थ अङ्गलाभ करते हैं—हम इस समय जिस क्षुद्र अहं को इतनी बड़ी वस्तु मान रहे हैं, वह उससे अनन्तगुण

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

दूर है। अहं नष्ट नहीं होगा—अनन्त और सनातन अहं लाभ होगा। क्षुद्र क्षुद्र वस्तुओं में सुखभोग तब नहीं रहेगा। हम इस समय इस क्षुद्र देह, इस क्षुद्र अहं को लेकर सुख पा रहे हैं। जब समस्त ब्रह्माण्ड हमारे स्वयं के देह रूप में बोध होगा, तब हम कितना अधिक सुख पायेंगे! इस पृथक् पृथक् देह में यदि इतना सुख रहता है, तो जब सकल देह एक हो जायेंगी, तब और भी कितना अधिक सुख प्राप्त होगा! जिस व्यक्ति ने इसका साक्षात्कार किया है, उसने ही मुक्तिलाभ किया है, वह इस स्वप्न को भङ्ग करके उसके बाहर चला गया है, उसने अपना यथार्थ स्वरूप जाना है। अद्वैत वेदान्त का यही उपदेश है।

वेदान्त दर्शन एक एक करके इन तीन सोपानों का अवलम्बन करके अग्रसर हुआ है तथा हम इस तृतीय सोपान को पार करके अधिक अग्रसर नहीं हो सकते, क्योंकि हम एकत्व के ऊपर अधिक जा नहीं सकते। जिससे जगत का सब कुछ उत्पन्न हुआ है, उसी पूर्ण, एकस्वरूप की धारणा से अधिक आगे हम जा नहीं सकते। सब व्यक्ति यह अद्वैतवाद ग्रहण कर नहीं सकते, वह उनके पक्ष में विशेष कठिन है। प्रथमतः, बुद्धिविचार के द्वारा समझना ही विशेष कठिन है। उसे समझने के लिए तीक्ष्णतम बुद्धि की आवश्यकता है, अकुतोभय विचार-शक्ति की आवश्यकता है। द्वितीयतः, वह अधिकांश व्यक्तियों के ही लिए उपयोगी नहीं है।

इन तीन सोपानों में से प्रथम से आरम्भ करना अच्छा है। इस

धर्मविज्ञान

प्रथम सोपान के सम्बन्ध में चिन्ता करके अच्छी तरह समझने पर द्वितीय स्वतः स्पष्ट हो जायेगा। जिस प्रकार एक जाति धीरे धीरे उन्नति-सोपान में अग्रसर होती है, व्यक्ति को भी उसी प्रकार करना होता है। धर्मज्ञान की उच्चतम चूड़ा में आरोहण करने के लिए मानवजाति को जिन सब सोपानों का अवलम्बन करना पड़ा है, प्रत्येक व्यक्ति को भी उसका ही अवलम्बन करना होगा। केवल प्रभेद यह है कि, समग्र मानवजाति को एक सोपान से दूसरे सोपान में आरोहण करने के लिए लाख लाख वर्ष लगे हैं, किन्तु व्यक्तिगण कुछ वर्षों में ही मानवजाति का समग्र जीवन यापन कर ले सकते हैं, अथवा वे और भी शीघ्र, सम्भवतः छः मास के भीतर ही उसे सम्पूर्ण कर ले सकते हैं। किन्तु हममें से प्रत्येक को ही इन सोपानों के माध्यम से जाना होगा। हममें से जो द्वैतवादी हैं वे अवश्य जब घोर द्वैतवादी थे, अपने जीवन के उस अंश की विशेष आलोचना करेंगे। जब ही आप अपने को देह और मन के रूप में सोचते हैं, तब आपको इस स्वप्न का समग्र अंश ही लेना होगा। एक भाव लेने पर ही समग्र को लेना होगा। जो व्यक्ति कहता है, इस जगत का अस्तित्व है, किन्तु ईश्वर नहीं है, वह निर्बोध है, क्योंकि यदि जगत हो, तो जगत का एक कारण भी रहेगा, और उस कारण का नाम ही ईश्वर है। कार्य रहने पर ही उसका कारण है, यह जानना होगा। जब यह जगत अन्तर्हित होगा, तब ईश्वर भी अन्तर्हित होंगे। जब आप ईश्वर के सहित अपना एकत्व अनुभव करेंगे, तब आपके पक्ष में यह जगत फिर नहीं रहेगा। किन्तु

ज्ञानयोग का चरम आदर्श

जितने दिन यह स्वप्न विद्यमान है, उतने दिन हम अपने को जन्ममृत्युशील मान कर देखने को बाध्य हैं; किन्तु ज्यों ही 'हम देह हैं' यह स्वप्न अन्तर्हित होता है, त्यों ही साथ ही साथ 'हम उत्पन्न हो रहे हैं और मर रहे हैं' यह स्वप्न भी अन्तर्हित होगा तथा 'एक जगत है' यह जो दूसरा स्वप्न है, यह भी चञ्चल जायेगा। जिसे हम इस क्षण इस जगत के रूप में देख रहे हैं, वही हमारे सम्मुख ईश्वर के रूप में प्रतिभात होगा, एवं जिनको एक दिन हम बहिर्देश में अवस्थित समझने थे, वे ही हमारी आत्मा के अन्तरात्मा-रूप में प्रतीत होंगे। अद्वैतवाद की अन्तिम बात है 'तत्त्वमसि'—वही तुम हो।

